हिन्दू देव परिवार का विकास

प्रथम संस्करण, १९६४ ई०

लेखक
डा० सम्पूर्णानन्द

प्रकाशक
मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

मित्र प्रकाशन गौरव ग्रंथ माला—८

हिन्दू देव परिवार का विकास

डा० सम्पूर्णानन्द

मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

प्रकाशक
मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद।

मूल्य
छः रुपए पचास पैसे

१९६४

मुद्रक
धीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद।

प्रकाशकीय

डा० सम्पूर्णानन्द कृत 'हिन्दू देव परिवार का विकास' पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। भारतीय साहित्य में यह ग्रंथ अपने ढंग का सर्वथा अनूठा और अद्वितीय है। सम्भवत: किसी भी भारतीय अथवा विदेशी भाषा में ऐसा ग्रंथ इसके पहिले नहीं लिखा गया।

डा० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में—"मैंने एक लम्बी कहानी को अल्पाक्षरों में, संक्षेप में, बाँधने का प्रयत्न किया है।" और विद्वान् लेखक को इस प्रयत्न में अद्‌भुत सफलता मिली है। ऐसे कठिन विषय को, इतने संक्षेप में, इतने रोचक ढंग से प्रस्तुत कर सकना डा० सम्पूर्णानन्द जी जैसे अधिकारी विद्वान् का ही काम था।

इस ग्रंथ को पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मित्र प्रकाशन को विशेष गौरव का अनुभव हो रहा है। इस ग्रंथ की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। भारतीय संस्कृति एवं धार्मिक विश्वासों के विकास का क्रमिक अध्ययन-अनुशीलन करने वाले अध्येताओं, स्नातकों और शोध छात्रों को तो इस ग्रंथ से सहायता मिलेगी ही, सामान्य पाठक भी इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

'भूमिका' में विद्वान् लेखक ने 'आर्य्यों' के सम्बन्ध में विशद अनुशीलन प्रस्तुत करते हुए बतलाया है कि वे कौन थे, उनकी विशेषता क्या थी, उनकी पहिचान क्या थी। "अब तक जो कुछ अध्ययन हो सका है, उससे यही प्रतीत होता है कि ....वे लोग किसी पृथक् और विशेष उपजाति के थे, इसका कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु निश्चय ही वे ऐसे लोग थे जिनको भौगोलिक कारणों ने एक साथ डाल दिया था। इस प्रकार उनमें कुछ विशेष

विश्वासों का, रहन-सहन के प्रकारों का, उदय हुआ था। उनमें एक विशेष प्रकार की संस्कृति का जन्म हुआ था और विशेष प्रकार की भाषा भी बोली जाने लगी थी। वस्तुत: जिसे आर्य्यों का इतिहास कहते हैं, वह उस विशेष प्रकार की संस्कृति का इतिहास है जिसका उन लोगों से सम्बन्ध था जो अपने को आर्य्य कहते थे।"

ये आर्य्य किसी न किसी रूप में इन्द्र, वरुण, मरुत्, सूर्य आदि अपने देवों की पूजा-वन्दना अवश्य करते थे। डा० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में, "यह स्पष्ट ही है कि वेद में देव शब्द और चाहे जिन अर्थों में आया हो, परन्तु उसमें किन्हीं विशेष प्रकार के व्यक्तियों को भी अभिलक्षित किया गया है जो मनुष्यों से भिन्न है। इसी प्रकार इन्द्र आदि शब्दों का प्रयोग भले ही परमात्मा के लिए किया गया हो, परन्तु वह केवल यौगिक शब्द नहीं है। उनके द्वारा किन्ही ऐसे व्यक्ति विशेषों की ओर संकेत किया गया है जिनको देव कहा गया है।"

इसी देव परिवार के विकास का क्रमिक, शृंखलाबद्ध अध्ययन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। ये देव कौन थे? इनकी महत्ता क्या थी? विशिष्टता क्या थी? क्या देवों की तुलना 'फ़रिश्तों' अथवा 'एंजिलों' से की जा सकती है? देवगण न फ़रिश्ते हैं, न एंजिल। "देवगण वस्तुत: और जीवों से भिन्न नही हैं। केवल अपने तप के द्वारा उन्होंने अपने को ऊँचे पद पर पहुँचाया है। वह पद नित्य नहीं हैं। देवत्व मोक्ष से नीचा है। देवत्व का अन्त होने पर कुछ देवगण जिन्होंने अपने देवत्व काल में विशेष साधना की है, मुक्त हो जायेंगे। शेष को फिर जन्म लेना होगा। ऐसे ही देवों को आजान देव या साध्य देव कहते हैं। कुछ काल के लिए, सत्कर्म के बल पर, दूसरे मनुष्य भी देवत्व प्राप्त कर लेते हैं, उनको कर्म देव कहते हैं। उपासना साध्य देवों की ही की जाती है।......मुख्यतया यही लोग आर्य्यों के उपास्य थे और उन्हीं की सूची में काल पाकर परिवर्तन हुए। उसी परिवर्तन को इस पुस्तक में विकास की संज्ञा दी गयी है।"

जिस क्रम से देव परिवार के विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, वह यह है—वेद, देव शब्द के विषय में भ्रान्त धारणाएँ, देव और देवता, साध्य देव, वैदिक देव परिवार, पौराणिक काल की भूमिका, पुराण, देव परिवार में भारी

परिवर्तन, पौराणिक काल की कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ, कुछ अवैदिक प्रवृत्तियाँ, वैदिक से हिन्दू, परतंत्र भारत में हिन्दू धर्म और वर्तमान काल ।

देव परिवार के विकासक्रम के अनुशीलन के साथ-साथ हमारे सांस्कृतिक इतिहास के विभिन्न मोड़ों और अवसरों पर जन समाज में प्रचलित मान्यताओं, आस्थाओं और विश्वासों के सम्बन्ध में भी डा० सम्पूर्णानन्द जी ने जो मत व्यक्त किए हैं, वे विचारोत्तेजक हैं और वे हमें अनेक स्वीकृत धारणाओं और मान्यताओं को बदलने के लिए प्रेरित करते हैं ।

डा० सम्पूर्णानन्द जी ने पुस्तक का उपसंहार करते हुए कहा है, "मैं नहीं कह सकता कि भविष्य में उपासना का क्या रूप होगा। इतना तो विश्वास होता है कि आगामी काल का हिन्दू दुर्बलता के ऊपर उठ चुका होगा । वह अपने उपास्य के सामने भिक्षुक के समान हाथ बाँध कर खड़ा न होगा ।... ...... वह यह शिक्षा ग्रहण कर चुका होगा कि स्वार्थभाव विनाश का साधन है। मनुष्य मात्र के कल्याण में अपना भी कल्याण है। त्याग ही भोग का हेतु है, कर्त्तव्य ही मनुष्य का धर्म है, अधिकारों के पीछे दौड़ना माया मृग का पीछा करना है । ऐसे मनुष्य का आचरण देवगण को भी अभिमुख करेगा, उनका भी सख्य और उनकी भी सहायता प्राप्त होगी और वह न केवल अपने जीवन को सार्थक कर सकेगा,परन्तु वेद की इस आज्ञा का भी पालन कर सकेगा —कृणुध्वम् विश्वमार्य्यम् !"

अपनी इस कृति में डा० सम्पूर्णानन्द ने वैदिक, औपनिषदिक और पौराणिक परम्पराओं का जैसा गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया है और जिस वैज्ञानिक दृष्टि से इस सम्पूर्ण परंपरा की छानबीन की है, वह निश्चय ही प्रेरणादायी है।

'हिन्दू देव परिवार का विकास' नामक इस पुस्तक का हर संस्कृति-प्रेमी परिवार में होना अनिवार्य है।

जहाँ तक हो सका है, हमने पुस्तक को शुद्ध रूप में प्रकाशित करने का प्रयास किया है। फिर भी, सम्भव है कि कहीं प्रूफ सम्बन्धी कोई त्रुटि रह गयी हो। अब तो उसका संशोधन अगले संस्करण में ही हो सकेगा।

हम पाठक समाज के सामने हर्ष और गर्व के साथ यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्रीकृष्ण दास
अध्यक्ष
पुस्तक विभाग

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रम्,

हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।

ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रम्,

स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥

प्राक्कथन

लगभग एक वर्ष हुए मैंने भारतीय विद्या भवन के तत्वावधान में बंबई में तीन व्याख्यान दिये थे। व्याख्यानमाला की भाषा अँग्रेजी थी और उसका विषय था 'ईवोल्यूशन आव दि हिन्दू पैन्थियन'—हिन्दू देव परिवार का विस्तार।

कई मित्रो ने आग्रह किया कि उन व्याख्यानों में जो विचार व्यक्त किये गये थे उन्हें पाठकों के समक्ष लाया जाय। प्रस्तुत पुस्तक उसी आग्रह का पालन कर रही है। इसमें व्याख्यानों की अपेक्षा विस्तृत विवेचन है। फिर भी मैं जानता हूँ कि ऐसे गम्भीर और महत्त्वपूर्ण विषय पर जो लिखा आना चाहिए उसकी दृष्टि से बहुत कम लिखा गया है।

पुस्तक में स्थान स्थान पर ऋग्वेद के मंत्र उद्धृत हैं। उनके साथ दी हुई संख्याओ में पहिला अंक मंडल, दूसरा सूक्त और तीसरा मंत्र के स्थान का सूचक है। जैसे, ३, ५, १४ का अर्थ हुआ ऋग्वेद के तीसरे मंडल के पाँचवें सूक्त का चौदहवाँ मंत्र।

जयपुर, मार्ग० कृ० १४, २०२० —सम्पूर्णानन्द

विषय-सूची

हिन्दू देव परिवार का विकास

सप्तसिन्धव

भूमिका

आने वाले अध्यायों में मैंने एक लम्बी कहानी को अल्पाक्षरों में, संक्षेप में, बाँधने का प्रयत्न किया है। प्रयत्न सफल हुआ हो या न हुआ हो, परन्तु प्रयास करने में ही बहुत सी ऐसी बातों को छोड़ देना पड़ा जो निश्चय ही विषय से सम्बद्ध थीं। उनके समावेश से पुस्तक की रोचकता बढ़ती। कहाँ तक कहानी के मूल सूत्र की रक्षा हो सकी, यह कहना भी कठिन है।

ऐसे विषय के प्रतिपादन में पदे पदे कठिनाइयों का सामना करना होता है। पुस्तक का नाम है 'हिन्दू देव परिवार का विकास।' यहीं से कठिनाइयों का श्रीगणेश होता है। हिन्दू के स्थान में आर्य्य शब्द रखा जा सकता है। आरम्भ में इस शब्द का व्यवहार किया भी गया है परन्तु आर्य्य किसको कहते हैं या कहते थे? जो लोग आर्य्य कहे जाते थे, या यों कहिए कि अपने को आर्य्य कहते थे, उनकी क्या विशेषता थी, क्या पहिचान थी? साधारण बोलचाल में आर्य्यों को एक जाति मानने का चलन है; परन्तु जाति किसको कहते हैं? न्याय के आचार्य्यों ने कहा है:

समानप्रसवात्मिका जातिः

जिन लोगों का प्रसव, जन्म, एक सा हो उनकी जाति एक है। हम बहुत दूर न जाँय, पर यह तो प्रत्यक्ष का विषय है कि सभी जरायुजों का, अर्थात् माँ के दूध पीनेवालों का, प्रसव एक सा होता है। गर्भ में आने से लेकर जन्म लेने तक की प्रक्रिया एक सी होती है। इस दृष्टि से चूहा, बिल्ली, व्याघ्र, मनुष्य—सब एक जाति के हैं। स्पष्ट ही इस परिभाषा को मानकर तो आर्य्यों के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकेगा। प्राणिशास्त्र समान जातित्व की एक संकीर्ण कसौटी बताता है। दो प्राणी एक जाति के हैं या नहीं इसको परखने के लिए यह देखना चाहिए कि उनमें यौन सम्बन्ध हो सकता है या नहीं।

यदि हो सकता है तो संतान होती है या नहीं और फिर संतानकी संतान होती है या नहीं। यदि ऐसा होता है तो दोनों की जाति एक है। इस परख के अनुसार सभी घोड़ों की जाति एक है। परन्तु घोड़ों और गदहों की जाति भिन्न है क्योंकि यद्यपि घोड़ों और गदहों के यौन सम्बन्ध से संतति होती है परन्तु खच्चर को कोई संतान नहीं होती। इस कसौटी के अनुसार मनुष्यमात्र की एक जाति है। भाषा और सम्प्रदाय को भी कसौटी नहीं माना जा सकता। करोड़ो व्यक्ति जो एक दूसरे से हर बात में भिन्न हैं और अपने को भिन्न जाति मानते हैं एक ही भाषा बोलते हैं। एक ही धर्म के माननेवालों मे ऐसे व्यक्ति होते हैं जो कदापि अपने को समानजातीय नहीं कह सकते।

एक परख ऐसी है जो कुछ दूर तक संतोषजनक प्रतीत होती है। मनुष्य प्राय: दो प्रकार के होते हैं: लम्बे सिर वाले और गोल सिर वाले। इसी प्रकार शरीर के कुछ दूसरे अवयवों में भी आलेख्य भेद होता है। कुछ लोगों के शरीर का रंग पीलापन लिए होता है, उनकी आँखें कुछ तिरछी होती हैं और गाल की हड्डी उभरी हुई। कुछ लोगोके बाल ऊन जैसे नरम होते हैं और होंठ उभरे हुए होते है। अब यदि एक विशेष प्रकार का सिर विशेष प्रकार के गाल की हड्डी, विशेष प्रकार के बाल और विशेष प्रकार की आँखो के साथ सदैव पाया जाय तो मनुष्यो को बड़ी सुगमता से वर्गीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार के भेदो के आधार पर मनुष्य जाति को निश्चित उपजातियों मे बाँटा जा सकता है। परन्तु दुर्भाग्य से यह बात भी नहीं होती। इन अवयवों का कोई स्थिर और नित्य सम्बन्ध देख नहीं पड़ता। किसी प्रकार के सिर के साथ किसी प्रकार की आँख, किसी प्रकार के बालों के साथ किसी प्रकार के गाल की हड्डी मिलती हैं। सम्भव है कभी आज से कई लाख वर्ष पहिले किसी एक प्रकार की उपजाति के मनुष्य किसी एक विशिष्ट भूखंड में रहते हो, परन्तु आज वह बात नही है। सच तो यह है कि आज से कई हज़ार वर्ष पूर्व मनुष्यों के पाँव में जैसे शनि ने अड्डा जमा लिया था, एक देश छोड़कर दूसरे देश में जाना साधारण सी बात हो गयी थी। आज तो देशान्तर यात्रा पर बहुत से सरकारी प्रतिबन्ध होते हैं। प्राचीनकाल में कोई रोकटोक नहीं थी। दृढ़ संकल्प और बाहु में बल होना चाहिए था। जो जहाँ चाहे जाकर बस जाय। इस प्रकार निरन्तर चलते रहने का परिणाम यह हुआ कि यदि कभी पृथक्

उपजातियाँ थीं भी तो सब एक दूसरे से मिलजुल गयीं। आज मनुष्य मात्र संकर हैं, कोई शुद्ध उपजाति नहीं है। आर्य्य नाम की किसी शुद्ध निश्चित गुणों से सम्पन्न उपजाति का कहीं पता नहीं चलता। इन बातों के आधार पर विचार करने से तो सभी मनुष्य एक हैं, पृथक मानने का कोई पुष्ट हेतु नहीं मिल सकता। परन्तु एक बात प्राचीन काल से चली आ रही है। पार्थक्य भाव के उत्पन्न करने और बढ़ाने वाले तत्त्व भी रहे हैं। पृथ्वी विशाल थी। मनुष्यों की संख्या बहुत कम थी। इसलिए बस्तियाँ बहुधा एक दूसरे से दूर पड़ जाती थीं। एक ही जगह कुछ शतियों तक एक साथ रहनेवालों में भौगोलिक कारणों से कुछ विशेषतायें आ जाती थीं। इनकी अलग-अलग अपनी वीर गाथायें और उपासना शैलियाँ बन जाती थीं। रहन सहन का ढंग अलग हो जाता था। यह भाव उत्पन्न हो जाता था कि हम एक हैं। कभी कभी ऐसी भी कथायें प्रचलित हो जाती थी कि इस हम एक ही पूर्वज या पूर्वजों की संतान हैं। पुरा काल के उनके योद्धा और नेता पूर्वज रूप से मान्यता पाने लगते थे। आरम्भ में चाहे बोलियाँ अलग अलग भी रही हों परन्तु कुछ काल में मिलजुल कर एक बोली, एक भाषा, बन जाती थी। यदि उन लोगों में कुछ लोग बहुत पहिले विजेता बनकर आये थे तो इस बात की बहुत बड़ी सम्भावना थी कि उनकी ही भाषा और उपासना शैली को प्रधानता मिली होगी; यद्यपि जो विजित रहा होगा उसकी भाषा और उपासना पद्धति से भी निश्चय ही सम्मिश्रण हुआ होगा। इस प्रकार ऐसे लोगों की अपनी एक अलग संस्कृति का बन जाना स्वाभाविक था। यदि इस प्रकार के कई समुदाय बन गये हों तो वह एक दूसरे से पृथक् भी होंगे और साथ ही उनकी संस्कृतियों में साम्य भी होगा। प्रत्येक समुदाय अपने को पृथक् नाम से पुकारता होगा, परन्तु अपनी साम्य की अनुभूति भी उनको निश्चय ही रही होगी। भेद और साम्य के इस प्रकार के उदाहरण किसी न किसी रूप में आज भी मिलते हैं। शिशोदिया, राठौर, चौहान, परमार आदि कई बातों में एक दूसरे से भिन्न हैं परन्तु किन्हीं बातों के आधार पर सब अपने को राजपूत कहते हैं।

अब तक जो कुछ अध्ययन हो सका है उससे यही प्रतीत होता है कि आर्य्यों का भी कुछ इसी प्रकार का समुदाय था। वह लोग किसी पृथक्

और विशेष उपजाति के थे इसका कोई प्रमाण नही है। परन्तु निश्चय ही वे ऐसे लोग थे जिनको भौगोलिक कारणों ने एक साथ डाल दिया था। इस प्रकार उनमें कुछ विशेष विश्वासों का, रहन सहन के प्रकारों का, उदय हुआ था। उनमें एक विशेष प्रकार की सस्कृति का जन्म हुआ था और विशेष प्रकार की भाषा भी बोली जाने लगी थी। वस्तुतः जिसे आर्य्यों का इतिहास कहते हैं वह उस विशेष प्रकार की सस्कृति का इतिहास है जिनका उन लोगों से सम्बन्ध था जो अपने को आर्य्य कहते थे।

एक बात और ध्यान में रखने की है। मैंने आर्य्य संस्कृति का चर्चा किया है। परन्तु सभी आर्य्यों की संस्कृति एक समान थी ऐसा नही माना जा सकता। अलग अलग समुदाय थे, वे अलग अलग समयों मे अलग अलग दिशाओ मे गये। इसलिए उनकी सस्कृतियों में थोड़ा बहुत अन्तर आ जाना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त सभी आर्य्य बस्तियो मे नही रहते थे। कुछ ऐसे भी थे जिनको पुरानी किताबों में व्रात्य कहा गया है। ये लोग नगरवासी आर्य्यों से भिन्न प्रकार का वस्त्र पहिनते थे, खेती बारी नही करते थे, मुख्य रूप से पशु पालन और कभी कभी लूटपाट का भी व्यवसाय करते थे। एक स्थान पर टिक कर रहते भी नही थे। इनकी बोली भी बस्तियो मे रहने वालो की अपेक्षा असस्कृत हुआ करती थी। पुरानी पुस्तकों में इसके उदाहरण भी मिलते है, जैसे अरयः (शत्रुओ) के लिए अलवः बोलना। क्रमशः ये लोग भी बस्तियो मे रहने वालो मे आ मिले। परन्तु बहुत दिनो तक पृथक् रहने के कारण इनमे जो विशेषताये आ गई होगी उनका प्रभाव मूल आर्य्य सस्कृति पर निश्चय ही पड़ा होगा। मैं आशा करता हूँ कि इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि हम आर्य्य शब्द का व्यवहार किस अर्थ मे करते है। बहुत प्राचीन काल मे कुछ लोग थे जो अपने को आर्य्य कहते थे। उनमें शरीर आदि की दृष्टि से कोई ऐसी विशेषता नही थी जो उनको दूसरे मनुष्यो से पृथक् करती। परन्तु उनमें एक विशेष प्रकार की संस्कृति का उदय हुआ था।

'सस्कृति' शब्द की परिभाषा करना बहुत कठिन है। परन्तु यों कह सकते है कि किसी समुदाय का जीवन सम्बन्धी समस्याओं के प्रति जो विशेष दृष्टि-कोण होता है उसे उस समुदाय की संस्कृति या संस्कृति का सार कह सकते

हैं। यह दृष्टिकोण, यह संस्कृति, उस समुदाय के साहित्य, उसकी चित्रकला, उसकी उपासना शैली और उसकी दार्शनिक प्रवृत्ति के द्वारा अपने को अवगत कराती हैं। यदि आर्य्य लोगों की कोई विशेष संस्कृति थी तो अपने उपास्यों के प्रति उनकी जो भावना थी उसमें भी उसका प्रकट होना अनिवार्य्य था। वह भावना क्या थी, इस बात का विवेचन पुस्तक के प्रथम खंड में किया गया है।

इस कथा का आरम्भ हुआ तो आर्य्यों के समुदाय में, परन्तु यह जानने की उत्सुकता भी स्वाभाविक है कि कहानी कब प्रारम्भ हुई? जिस देव परिवार का यहाँ चर्चा है उसे आर्य्यों ने कब अपनाया? ऐसे परिवार के प्रति जिस भावना का संकेत किया गया है उसका उदय कब हुआ? जहाँ तक मैं जानता हूँ इन प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं दे सकता। कम से कम मैं तो नहीं दे सकता।

आर्य्य लोग तो अपना कोई लिखित इतिहास छोड़ नहीं गये हैं। उनके इतिहास की जानकारी दो दिशाओं से मिलती है। एक तो मुख्यतः ऋग्वेद है। यह संसार की सबसे पुरानी पुस्तक है और आर्य्य लोगों की सबसे प्रामाणिक सवमान्य, मूर्धन्य धर्म्म पुस्तक है। इतिहास ग्रन्थ न होते हुए भी इससे आर्य्यों के जीवन पर बहुत बड़ा प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी एशिया के इतिहास में भी आर्य्यों के सम्बन्ध में कुछ न कुछ सामग्री मिलती है। पश्चिमी एशिया का इतिहास भी विस्तृत रूप से कहीं नहीं मिलता। इसका कुछ फुटकर चर्चा बाइबिल में है। कुछ मिस्र के इतिहास में है और कुछ पकाई हुई ईंटो पर खुदी हुई उन पुस्तकों में है जो उन नरेशों के कार्य्यों का विवरण देती है जो किसी समय यहाँ राज्य करते थे।

अब यदि हम वेद को लेते हैं तो यह तो सब मानते हैं कि वेद में आर्य्य जीवन का वर्णन है। परन्तु यह विवरण कितना पुराना है इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर अब तक नहीं मिला। यदि किसी आस्तिक संस्कृत विद्वान् से पूछिये तो वह यही कहेगा कि वेद अनादि है। ऐसा मानते हैं कि यह ब्रह्मा की आयु के श्वेतवाराह कल्प का २८वाँ कलियुग है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि इसी कल्प से सृष्टि का आरम्भ माना जाय तो उसको १२,०५,३३,००० वर्ष हुए। इसी के लगभग वेद का अवतरण हुआ होगा।

श्रद्धा की दूसरी बात है, परन्तु वैज्ञानिक ढग से विचार करने में इस संख्या से कोई सहायता नही मिलती। पाश्चात्य विद्वानों का यह कहना रहा है कि ऋग्वेद काल ईसा पूर्व १५ सौ से लेकर १ हजार वर्ष तक था अर्थात् वेदमंत्र आज से लगभग ३५ सौ वर्ष से अधिक पुराने नहीं हैं। वेदों का गहरा अध्ययन करने के बाद और आधुनिक ज्योतिष शास्त्र की बातों से मिलाने के बाद लोकमान्य तिलक इस परिणाम पर पहुँचे कि वेद आज से १० हजार वर्ष पहिले के काल का साक्ष्य देता है। उस समय वसन्तसंपात जो आजकल उत्तरभाद्रपद नक्षत्र में होता है मृगशिरा में हुआ करता था। इस बात की ध्वनि भवगत्गीता के इस श्लोक में भी मिलती है:

मासानाम् मार्गशीर्षोऽहम्, ऋतूनाम कुसुमाकरः

ऋग्वेद के मंत्र ठीक अपने वर्त्तमान रूप में १० हजार वर्ष पहिले न रहे हों, सब मंत्र भी उतने पुराने नहीं होंगे, परन्तु उतने पुराने समय की स्मृति आर्य्यों को थी और ऋग्वेद उधर संकेत करता है। यदि तिलक की बात ठीक है तो ऋग्वेद आज से १० हजार वर्ष पहिले के आर्य्य जगत् का चित्र दिखलाता है। कुछ विद्वान् इससे भी आगे जाते हैं। ऋग्वेद के दशम् मंडल मे यह मंत्र आया है:

सूर्याया वहतुः प्रागात्, सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावो, अर्जुन्योः पर्युह्यतेः।

'सूर्य्य ने अपनी लड़की सूर्य्या के विवाह में जो दहेज की सामग्री दी वह आगे चली। गाड़ी के बैलों को अघा (मघा) नक्षत्र में मारना पड़ा। अर्जुनी (फाल्गुनी) में गाड़ी तेजी से चली।' साधारणतः इस मंत्र का कोई अर्थ नहीं लगता। परन्तु विद्वानों ने दिखलाया है कि एक समय सूर्य्य की दक्षिणायन गति मघा नक्षत्र में समाप्त होती थी। यह बात आजकल २४ दिसम्बर को मूल नक्षत्र में होती है। मघा नक्षत्र में सूर्य्य अगस्त मास से होता है। उन दिनों पूर्वा फाल्गुनी से सूर्य्य तेजी के साथ उत्तरायण चलने लगता था। यह दृग्विषय आज से १७ हजार वर्ष पुराना है। यदि यह अर्थ ठीक है तो ऋग्वेद १७ हजार वर्ष पहिले की ओर संकेत करता है।

वेद के कुछ ऐसे अंश हैं जिनको पाश्चात्य विद्वान् औरों से अधिक प्राचीन मानते हैं। भारतीय विद्वान् तो उनको प्राचीन मानते ही हैं। स्वभावतः ऐसे ही मंत्रों से जिनकी प्राचीनता सर्वमान्य है आर्य्यों के इतिहास पर प्रकाश ढूँढ़ा जाता है। इन मंत्रों में जहाँ और बातें हैं वहाँ कुछ वैदिक देवों जैसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, मरुत् और अश्विद्वय के नाम भी आते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि जिस काल से इन मंत्रों का सम्बन्ध है उसमें इन देवों की उपासना होती थी। सम्भावना यही है कि उपासना मंत्रों से पहिले से चली आती होगी। परन्तु वह काल कौन सा था, यह कहना कठिन हो रहा है। जहाँ किसी के मत में वेद मंत्रों की गति ३५ सौ वर्षों से पीछे नहीं जाती वहाँ कोई दूसरा विद्वान् उनमें १० सहस्र वर्ष पूर्व की झलक देखता है और किसी दूसरे के मत में उनमें १५ हज़ार वर्ष पूर्व का संकेत मिलता है। इसलिए हमको यह देखना होगा कि अन्य दिशाओं से इस विषय पर क्या सामग्री उपलब्ध होती है।

पारसियों के ग्रंथ अवेस्ता के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि किसी समय वैदिक आर्य्यों और पारसियों के पूर्वजों का एक ही समुदाय था। अवेस्ता की भाषा वैदिक संस्कृत से बहुत मिलती है। उससे कई उपास्यों के नामों में भी समता है। सूर्य्य और अग्नि समान रूप से उभयत्र पूज्य हैं। वैवस्वत् यम विवनघत् यिम के नाम से विद्यमान हैं; परन्तु दो बहुत बड़े अन्तर हैं। एक तो अवेस्ता मे इन्द्र के लिए स्थान नहीं है। वृत्रघ्न जो वेद में इन्द्र की एक उपाधि है वेरेत्रघ्न के रूप में मिलता है। परन्तु इन्द्र की कहीं उपासना नही है। दूसरी ओर वेद मे कई जगह ऐसे लोगों का चर्चा है जो इन्द्र की उपासना के विरुद्ध थे। अनिन्द्र कहकर उनकी घोर निन्दा की गई। इससे विद्वज्जन इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि किसी समय उस पुराने समुदाय में कोई घोर धार्मिक युद्ध हुआ होगा। इन्द्र को सर्वोपरि माना जाय या नहीं, सम्भवतः इस बात को लेकर संघर्ष छिड़ा होगा और यहाँ तक बढ़ा होगा कि दोनों दल एक दूसरे से पृथक् हो गये। एक दल ने देश ही छोड़ दिया। इसी दल के वंशज ईरान के पारसी हुए। अवेस्ता और वेद की मान्यताओं में एक और अन्तर है। वैदिक मत के अनुसार देव पूज्य होते हैं और असुर निन्दास्पद। अवेस्ता इससे ठीक उलटी बात कहता है। उसके अनुसार असुर

पूज्य होते हैं और देव निन्द्य। सम्भवतः यह भी उसी पुराने धार्मिक युद्ध का परिणाम होगा।

यदि वैदिक और पारसी आर्य्यों के पृथक् होनेवाली बात की कल्पना ठीक हो और इस बात का निश्चित रूप से पता चल सके कि यह संघर्ष कब हुआ अर्थात् आर्य्य समुदाय कब दो दलों में विभक्त हुआ तो स्यात् पुराने इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ सके। परन्तु इस सम्बन्ध में भी अब तक कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हुई। अवेस्ता के अनुसार अहुरमज्द अर्थात् असुरमहत् ने जर्युश्त्र को यह बतलाया कि सबसे पहिले सृष्टि ऐर्य्यन वीजो—आर्य्यों के बीज—में हुई थी। इसका यह तात्पर्य्य हो सकता है कि इन लोगों को यह स्मरण था कि कभी उनके पूर्वज उस स्थान पर रहते थे। पर यह स्थान कहाँ था और कब उसे छोड़कर वे लोग अन्यत्र गये, इस विषय में साधिकार कुछ नहीं कहा जा स ता।

इस स्थल पर असुर शब्द का उल्लेख हो गया है। इसके सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक है क्योंकि आगे चलकर इसका फिर व्यवहार करना है। यद्यपि वैदिक वाङ्मय में देव शब्द अच्छे और असुर शब्द बुरे अर्थ में आता है तथा इसके विपरीत प्राचीन पारसी वाङ्मय में असुर अच्छे और देव बुरे अर्थ में प्रयुक्त होता है, फिर भी किसी समय ऐसा लगता है कि व्यवहार में ऐसा पार्थक्य नहीं था। कम से कम वेदों में कई स्थलों पर असुर शब्द अच्छे अर्थ में भी आया है, कई मंत्रों मे इन्द्र के असुरत्व की महिमा गायी गई है। वरुण को भी असुर कहा गया है। पीछे पौराणिक काल के आते-आते इस बात का प्रायः लोप हो गया। फिर भी पुरानी स्मृति कहीं कहीं बच रही है। हरिवंश में उषा और अनिरुद्ध के विवाह की जो कथा है उसमें कहा गया है कि विवाह के बाद लौटते समय श्रीकृष्ण असुर राज वरुण से लड़े थे और उनसे कुछ सुन्दर गउओं को छीन लाये थे। किसी समय देव और असुर तथा मनुष्य एक दूसरे से नितान्त पृथक् नहीं थे। इसका भी स्पष्ट उल्लेख है। कहा जाता है कि महर्षि कश्यप की अदिति नाम की पत्नी से देवों का जन्म हुआ। उनकी दिति और दनु नाम की पत्नियों से दैत्यों और दानवों का, जिनको ही असुर कहा जाता था, तथा मनु नाम की पत्नी से मानव अर्थात् मनुष्य का जन्म हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि देव, असुर और मनुष्य

एक दूसरे के सौतेले भाई हैं, एक ही पिता की सन्तान हैं। इस बात को ध्यान में रखने से इतिहास की बातों को समझने में सुविधा होगी। असुर और मनुष्य एक दूसरे से नितान्त भिन्न नहीं थे। इसके प्रमाण स्वरूप पुराणों की वह प्रसिद्ध कथा है जिसके अनुसार श्रीकृष्ण के पौत्र का विवाह बाणासुर की पुत्री से हुआ था।

मैं यह कह रहा था कि केवल वेदों के अध्ययन से उस काल का यथार्थ पता नहीं चलता जब कि ऋग्वेद में नामांकित देवों की पूजा होती थी। इसके लिए कुछ और भी प्रमाण ढूंढ़ने चाहिए।

पश्चिमी एशिया का वह भाग, जिसको एशिया माइनर (लघु एशिया) कहते हैं, सभ्यता के इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। एक तो यह दो महाद्वीपों का संगम है। यहाँ एशिया और अफ्रीका मिलते हैं, एक ओर एशिया की संस्कृति दूसरी ओर प्राचीन मिश्र की संस्कृति। यहीं दोनों में संघर्ष भी हुए, यहीं दोनों को एक दूसरे को प्रभावित करने का, एक दूसरे से आदान प्रदान करने का, अवसर भी मिला। इस सांस्कृतिक विनिमय में अंशतः एशिया का प्रतिनिधित्व यहूदियों ने किया। कई बार मिस्रियों से लड़े, जीते भी, हारे भी। मूसा के नेतृत्व में मिस्रियों से पिंड छुड़ाया, फिर रोमन साम्राज्य के अधीन हुए। उन्हीं लोगों में ईसा का जन्म हुआ। परन्तु इस भूखंड में अकेले यहूदी ही नहीं थे, समय समय पर यहाँ और कई समुदायों ने बलवान् राज्य और साम्राज्य स्थापित किये। उनके अवशेष किसी न किसी रूप में अब भी मिलते हैं। एक का चर्चा दूसरे के साहित्य में है। कुछ पुरानी इमारतें है, कुछ ऐसी पुस्तकें हैं जिनमें कच्चे ईंट पर लिखकर ईंटों को पका दिया गया है। ऐसे कई प्रमाणों के मिलने से कुछ तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है, इतिहास की तिथियाँ कुछ निश्चित की जा सकती हैं।

ऐसे ही एक समुदाय का नाम खत्ती या खत्तिय था। बाइबिल में इनको हित्ती कहा गया है। ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि इनका इतिहास काल ईसा पूर्व २७०० से ७०० तक अर्थात् २००० वर्ष रहा। इस बात के भी प्रमाण मिले हैं कि ये लोग आर्य्यों की ही शाखा थे। लगभग उन्हीं दिनों मितान्नी या मितन्नी नाम के एक समुदाय का भी अभ्युदय उस प्रदेश में हो रहा था। मितान्नी लोग

भी आर्य्य थे। ऐसा पता चलता है कि ईसा पूर्व दो हज़ार वर्ष तक इस प्रदेश में हित्ती या मितन्नी फैल गये थे। इन्होंने मिस्र के सम्राटों से भी लोहा लिया था। प्रकृत विषय से सम्बन्ध रखने वाली एक रोचक सामग्री मिली है। खत्ती राजा शुब्बीलुल्लुम और मितन्नी राजा मत्तीवजा में ईसा पूर्व १४ सौ के लगभग कभी युद्ध हुआ। युद्ध के बाद जो संधि हुई वह अब भी मिलती है। उसमें चार देवों को साक्षी माना गया है। उनके नाम है इनदर, मेइततर, उरुववन और नस-अत्तिय। देखने से यही प्रतीत होता है कि यह नाम इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्य के है। उस समय की दूषित लिपि के कारण नामों के रूप कुछ विकृत हो गये हैं। इसी कारण लिपि के दोषों से नरेशों के नाम अनार्य जैसे लगते हैं।

लगभग इसी समय आर्य्यों की एक और शाखा उत्तर की ओर से उस प्रदेश में उतर रही थी। ईसा पूर्व २०८० से तो एक प्रकार से इसका निश्चित पता चलता है। ये लोग काशीय या काश्य कहलाते थे। इन लोगों ने भी कई सौ वर्षों तक राज्य किया। इनके कुछ देवों के नाम थे इन्दश, सूर्यश, मरुतश। स्पष्ट ही यह इन्द्र, सूर्य्य और मरुत् के नाम हैं। जहाँ तक मैं समझ सकता हूँ इन नामो के अन्त मे जो शकार है वह प्रथमा विभक्ति का प्रत्यय है। पाणिनि के व्याकरण के अनुसार इसका मूल रूप सु है। कई परिवर्तनों के बाद यह अस् या विसर्ग के रूप में देख पड़ता है। इन काश्य देवों के नामों के संस्कृत रूप होंगे इन्द्रस् (इन्द्रः), सूर्य्यस् (सूर्यः) और मरुतस् (मरुतः)। वस्तुतः संस्कृत में मरुत् नाम का देवो का एक गण है। एकवचन में इस शब्द का रूप मरुत् होगा।

इन सब बातों से कई रोचक और आवश्यक बातों का पता लगता है। एशिया महाद्वीप के उस भूभाग में कम से कम तीन ऐसे समुदाय थे जो कई महत्त्वपूर्ण बातों में वैदिक आर्य्यों से मिलते जुलते थे। उनकी भाषा आर्य्य भाषा अर्थात् वैदिक भाषा या प्राचीन संकृत से मिलती जुलती थी और सबसे बड़ी बात यह है कि इन लोगों के कई उपास्य वहीं थे जिनसे हम वेदों के द्वारा परिचित हैं। वे लोग भी इन्द्र, वरुण, नासत्य, मरुत् और सूर्य की पूजा करते थे।

इतना तो सिद्ध हुआ कि ईसा से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व अर्थात् इस समय से लगभग ४५ सौ वर्ष पूर्व इन देवों की किसी न किसी रूप में आर्य्यों

में पूजा होती थी। ऐसा तो मानना ही चाहिए कि जब हमको इन आर्य समुदायों का सबसे पहिले इतिहास के पृष्ठों में दर्शन होता है उसके कई सौ वर्ष पहिले से ये देव उनके उपास्य रहे होंगे। हम नहीं कह सकते कि अपने इन उपास्यों की ये लोग किस प्रकार तुष्टि करते थे, किन शब्दों में उनकी स्तुति करते थे। परन्तु इसके मानने के तो कुछ प्रमाण मिलते हैं कि इन लोगों की धार्म्मिक मान्यताएं वैदिक आर्य्यों से नितान्त भिन्न नहीं थीं। कम से कम इन्द्र की एक मूर्ति मिली है जिसके हाथ में वज्र है। वैदिक आर्य्य भी इन्द्र को वज्रधर के रूप में मानते हैं। आर्य्य परिवार की कहानी जिसको पाश्चात्य विद्वान् किसी भी दशा में ३५ सौ वर्ष के आगे नहीं ले जाना चाहते थे, इन प्रमाणों के आधार पर कम से कम ५ हज़ार वर्ष पहिले तो आरम्भ हो ही चुकी थी।

इस कथा का आरम्भ कहाँ हुआ, यह भी एक रोचक प्रश्न है और इसका भी उत्तर देना उतना ही कठिन है जितना कि यह बताना कि कथा का आरम्भ कब हुआ।

आर्य्य लोग कहीं भी रहे हों परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि आज से बहुत दिन पूर्व कभी वे लोग किसी एक प्रदेश में रहते थे। एक उपजाति के रहे हो, अनेक उपजातियों के रहे हों, चाहे जैसे भी रहे हों, परन्तु कुछ लोग पर्य्याप्त काल तक एक स्थान में रहे। स्थान या प्रदेश, जो भी कहिए, वह कितना बड़ा था हम नहीं कह सकते। परन्तु इतना बड़ा तो नही रहा होगा कि लोग एक दूसरे से पृथक् और सर्वथा असम्बद्ध छोटी टुकड़ियों में बँट जाते। उन दिनों रेल और तार जैसे यातायात और सम्पर्क के साधन नहीं थे। पैदल चलकर ही लोग एक दूसरे से मिल जुल सकते थे। यदि बहुत दूर-दूर रहते होते तो उनमें सांस्कृतिक सादृश्य न होता। बहुत दिनों के सम्पर्क से उनकी भाषा एक सी हो गई होगी। उपासना पद्धति में समानता आ गई होगी, विचारों में और रहन सहन के ढंग में एकरूपता देख पड़ने लगी होगी, एक सी संस्कृति का उदय हो गया होगा। भले ही पृथक् पृथक् टुकड़ियाँ अपने को पृथक् नामों से पुकारती हों, परन्तु एक दूसरे के प्रति अपनेपन का अनुभव होता होगा। सम्भवतः सब लोगों के लिए कोई एक नाम भी होगा। वेदों के देखने से ऐसे प्रतीत होता है कि ये लोग अपने को आर्य्य कहते थे। ईरानी ऐर्य्य शब्द भी आर्य्य का ही रूपान्तर है।

यों तो आजकल आर्य्य का अर्थ उत्तम, श्रेष्ठ, उदार होता है। अपने को ऐसी उपाधियों से विभूषित करना सभी को अच्छा लगता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में आर्य्य का वंशज होना स्वयं आर्य्य कहलाने के लिए अनिवार्यतः आवश्यक नहीं था। दूसरों को भी आर्य्य कुल में सम्मिलित किया जा सकता था। ऋग्वेद का एक मंत्र कहता है, 'कृणुध्वम् विश्वम् आर्य्यम्' —सारे विश्व को आर्य्य बनाओ। इसकी सार्थकता तभी हो सकती है जब अनार्य कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी आर्य्य संस्कृनि में दीक्षित होने पर आर्य्य बनाया जा सकता हो। आजकल ऐसा माना जाता है कि आर्य्य शब्द 'ऋ' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'गमन'; परन्तु कई विद्वानों ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि किसी समय आर्य्य भाषाओं में 'अर' जैसा कोई धातु था जिसका अर्थ होता था, हल चलाना। इससे सम्बन्धित बहुत से शब्द उन भाषाओं में मिलते हैं जिनको आर्य्य भाषा की परिभाषा में माना जाता है। यह हो सकता है कि आर्य्य शब्द इसी धातु से निकला हो। यदि ऐसा है तो आर्य्योंने अपने को यह नाम इसलिए दिया होगा कि वे लोग कृषिकर्मा थे अर्थात् व्रात्यों से भिन्न थे।

अस्तु, जहाँ भी मूल निवास रहा हो, वहीं से समय समय पर आर्य्यों की टोलियाँ बाहर के देशों में फैली होंगी। वे जहाँ जहाँ गये होंगे अपनी सभ्यता और सगठन-शक्ति के बल पर वहाँ वहाँ के मूल निवासियों को उनसे दबना पड़ा होगा। शासन का अधिकार आर्य्यों के हाथ में आया होगा। भले ही आर्य्य और अनार्य मिलकर एक हो गये हों परन्तु भाषा, उपासना और सामान्य संस्कृति पर आर्य्यों का गहरा प्रभाव पड़ा होगा। इसी प्रकार समस्त योरप, एशिया माइनर, ईरान और भारत में आर्यत्व का विस्तार हुआ होगा।

परन्तु वह मूल स्थान कहाँ था ? एशिया माइनर को तो यह गौरव प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ का इतिहास यह बताता है कि खित्ती, मितन्नी और काश्य इन सब ने बारी-बारी कही बाहर से आकर उस देश को घर बनाया। कुछ यूरोपीय विद्वान् ऐसा मानते थे कि यूरोप के पश्चिमोत्तर भाग से आर्य्य चारों ओर फैले। परन्तु अधिकतर विद्वानों को यह बात मान्य नहीं है। लोकमान्य तिलक का कहना है कि आर्य्यों का मूल निवास स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश में था। आज वहाँ चारों ओर बर्फ़ फैली हुई है, परन्तु आज से १० हज़ार वर्ष पहिले वहाँ

ऐसा नहीं था। निरन्तर बसन्त जैसा ऋतु बना रहता था। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों का मत यह है कि आर्य्य लोग पहिले मध्य एशिया में रहते थे। उनका निवास पामीर की अधित्यका के आसपास कहीं था। भारतीय विद्वान् यह मानते आये हैं कि आर्य्य भारत के निवासी थे। वर्त्तमान काल में श्री ए० सी० दास ने इस मत का प्रतिपादन किया। मैंने भी अपनी 'पुस्तक आर्य्यों का आदि देश' में इसी का समर्थन किया है। बहुत विस्तार से इस जगह शास्त्रार्थ में जाने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु कुछ बातें उल्लेख के योग्य हैं ।

मिस्त्री आदि के सम्बन्ध में तो यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वे कहीं बाहर से आये। पारसियों के धर्म्म ग्रन्थ में स्वयं अहुरमज्द ने यह संकेत किया है कि सबसे पहिले उन लोगों का निवास जिस देश में हुआ वह ऐर्य्यनवेइजो था। इसके बाद तेरह और देशों में होते हुए वे लोग हप्तहिन्दु में आये और फिर उस देश में जो रंघ के किनारे है। यह इराक की ओर संकेत है। उनकी यात्रा का अन्त ईरान में हुआ।

इस वर्णन से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि पारसी आर्य्यों के पूर्वज कई देशों में घूमने के बाद अन्त में जाकर ईरान में स्थिर रूप से बसे। परन्तु भारतीय आर्य्यों के इतिहास में कहीं बाहर से आने का कोई संकेत नहीं मिलता। वेद के प्राचीन से प्राचीन भाग में भी भारत के बाहर के किसी देश का या किसी देश से यहाँ आने का कोई चर्चा नहीं है। उन लोगों को केवल उस भूभाग से परिचय था जिसको सप्तसिंधव कहते थे। उसी को अवेस्ता में 'हप्त हिन्दु' कहा गया है। यह सिन्ध और सरस्वती के बीच का वह देश था जिसमें सतलज, ब्यास, रावी, चनाब और झेलम नदियाँ बहती हैं। इसी से उसे सप्तसिंध कहते थे। इसमें सारा पंजाब, कश्मीर का दक्षिणी पश्चिमी भाग और अफगानिस्तान का वह भाग आ जाता है जो कुभ (काबुल) नदी के आसपास बसा हुआ है। इसके दक्षिण में जहाँ आज राजस्थान है वहाँ समुद्र था। इसी प्रकार पूर्व दिशा में भी जहाँ आज उत्तर प्रदेश है, वहाँ भी समुद्र था। इससे यह बात भले ही सिद्ध न होती हो कि आर्य्य लोग सदा से इसी प्रदेश में रहते थे, पर यह तो सिद्ध होता ही है कि वे कहीं बाहर से आये भी थे तो इस बात को इतने दिन हो गये थे कि इसकी सारी स्मृति जाती रही थी। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यदि सप्त-

सिवव मानव सृष्टि के आदि काल से ही आर्य्यों का मूल स्थान नहीं था, तब भी उनकी एक बहुत बड़ी शाखा दीर्घकाल से इसी प्रदेश में रहती थी और उस शाखा की संस्कृति का विकास बहुत कुछ यहीं हुआ था।

यह भी ध्यान देने की बात है कि पारसी आर्य्य भी इस बात को मानते हैं कि उनकी यात्रा के अन्त होने के लगभग अहुरमज्द ने उनको हप्तहिन्दु में बसाया था। अतः उनकी संस्कृति पर तो निश्चय ही सप्तसिन्धव की गहरी छाप रही होगी। कथा का आरम्भ सप्तसिन्धव से भले ही न हो परन्तु इसका एक महत्व-पूर्ण अध्याय यही लिखा गया, ऐसा मानने के लिए पर्य्याप्त कारण है।

पश्चिमी एशिया में जो आर्य्य थे वे कहाँ से आये थे यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें से कम-से-कम वे लोग जो काश्य कहलाते थे कास्पियन (काश्यपायन ?) समुद्र के दक्षिणी तट के आसपास कहीं रहते थे। इतनी बात से आर्य्यों के मूल स्थान पर कोई विशेष प्रकाश नही पड़ता। उन लोगों का हुआ क्या, यह भी एक रोचक प्रश्न है। आज तो उस प्रदेश में आर्य्य भाषा या आर्य्य संस्कृति की कोई जगह देख नहीं पड़ती।

किसी समय भारत से आर्य्य संस्कृति श्याम पहुँची थी। बहुत दिनों तक वहाँ आर्य्य नरेशों ने राज्य किया। अब वहाँ के लोगों ने हिन्दू धर्म्म छोड़ दिया है। जनता मे पुरानी बातों का तो बहुत कुछ लोप हो गया है परन्तु अब भी वहाँ की सस्कृति पर आर्य्य संस्कृति का प्रभाव देख पड़ता है।

परन्तु पश्चिमी एशिया में ऐसा कुछ भी नहीं है। धर्म्म की दृष्टि से लोग मुसलमान है। इतिहास यह बतलाता है कि उस प्रदेश में आर्य्य नरेशों को असीरियन लोगों से घोर संघर्ष करना पड़ा। अन्त में असीरियन विजयी हुए। आर्य्यों के हाथ से शासन सदा के लिए चला गया। ये असीरियन भी आर्य्य संस्कृति से बहुत कुछ प्रभावित थे, परन्तु आर्य्य नहीं, सेमेटिक थे, उन लोगों से मिलते-जुलते थे जिनकी वंशज अरब और यहूदी हैं। विद्वानों का मत है कि उन असीरियन लोगों को ही वैदिक वाङमय में असुर कहा गया है। असुरों से पराजित होने के

बाद सम्भवतः आर्य्य लोग प्रदेश के शेष निवासियों में घुल-मिल गये होंगे। अपने राजनीतिक महत्त्व को खोकर उनका आत्मविश्वास भी जाता रहा होगा और काल पाकर अपनी पृथक् संस्कृति से भी हाथ धो बैठे होंगे। अन्तिम खित्ती नरेश ईसा से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व असुरों से हारे। लगभग दो हज़ार वर्ष शासन करने के बाद खित्ती राज और उसके साथ आर्य्य सत्ता का लोप हो गया। कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि कुछ आर्य्य वहाँ से निकल कर भारत में आ बसे। इस पक्ष के विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि इन लोगों ने काठियावाड़ में आश्रय पाया।

कई विद्वानों का ऐसा मत है कि आर्य्यों की प्रारम्भिक विजयों का एक मुख्य कारण यह था कि सबसे पहिले उन लोगों ने ही घोड़े को पाला था। आर्य्यों के सिवाय आरम्भ में दूसरे लोग घोड़े की सवारी करना नहीं जानते थे। उनसे पहिले के जो अवशेष कहीं मिलते हैं उनमें दूसरे पशुओं के चित्र भले ही हों पर घोड़े के चित्रों का अभाव होता है। जहाँ जहाँ भी आर्य्य लोग गये वे घोड़े के महत्त्व को अपने साथ लेते गये। प्राचीन काल के कई भारतीय नरेशों के नाम में अश्व शब्द आता है जैसे वृद्धाश्व आदि। वेद में सूर्य को अश्व कहा गया है। ईरान के भी कई नरेशों के नामों के अन्त में अस्प आता है। फ़ारसी में घोड़े को अस्प कहते हैं। पश्चिमी एशिया के भी कई आर्य्य नरेशो के नाम में अश आया है। कुछ काल में दूसरे लोगों ने भी घोड़े पाले और युद्ध में उनसे काम लेना सीखा। इससे आर्य्यों की श्रेष्ठता का एक बहुत बड़ा साधन उनके हाथ से निकल गया।

वैदिक वाङमय मे असुरो का चर्चा है और ऋग्वेद से ही यह चर्चा शुरू होता है। ऐसा लगता है कि देवों और असुरो में निरन्तर युद्ध होता रहा है। कभी एक की और कभी दूसरे की जीत हुई है। इतना ही नही, ऐसा लगता है कि देवगण भी कई बार हार गये हैं और किसी बाहरी सहायता के मिलने पर ही उनको विजय प्राप्त हुई है। विद्वानों को देवासुर संग्राम के वर्णन में पश्चिमी एशिया में होने वाले आर्य्य और असुर जातियों की लड़ाई की ध्वनि मिलती है। स्वभावतः भारतीय वाङमय में असुरों का बुरा चित्र खींचा गया है। शत्रुओं को निन्दनीय रूप में दिखलाना मनुष्य का स्वभाव सा है। असुर अर्थात् असीरियन भाषा में असुर का अर्थ है उदार या श्रेष्ठ।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्य में असुर शब्द दो अर्थों में आया है। एक ओर तो उन असुर लोगों को उद्दिष्ट किया गया है जिनसे आर्य्य लोगों को पश्चिमी एशिया में लड़ना पड़ा था। यों तो देवों और असुरों का वर्णन इस प्रकार मिला जुला है कि उससे यह प्रतीत नहीं होता कि असुर कहाँ के निवासी थे परन्तु कहीं कहीं स्पष्ट चर्चा भी मिल जाता है। उषा, अनिरुद्ध के विवाह की कथा को लीजिए। आजकल लोग साधारणतया इस बात को भूल गये हैं कि बाणासुर की राजधानी शोणितपुर कहाँ थी। उत्तराखंड में केदारनाथ से कुछ दूर एक स्थान है जिसको ऊखीमठ कहते हैं। लोगों को विश्वास है कि यह ऊखी शब्द उषा का अपभ्रंश है। ऐसा माना जाता है कि उसी के पास पहाड़ों पर कहीं बाणासुर की राजधानी थी। परन्तु हरिवंश में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि शोणितपुर श्रीकृष्ण के निवास स्थान द्वारका से बहुत दूर पश्चिम की ओर था। उसी कथा में यह भी कहा गया है कि शोणितपुर से लौटते हुए मार्ग में असुर राजा वरुण की पुरी पड़ी थी। कम से कम इस कथा के अनुसार तो असुर लोग भारत से पश्चिम किसी दूर देश में रहते थे। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि असुर लोग एशिया माइनर के रहने वाले थे।

सोचने की बात यह है कि यदि आर्य्यों की किन्ही टुकड़ियों से सुदूर प्रदेश में वहाँ के निवासी असुरों से युद्ध हुए तो भारतीय आर्य्यों को उन लड़ाइयों का पता कैसे चला? जिस प्रकार उन युद्धों का वर्णन मिलता है उससे तो ऐसा लगता है कि यह सब वर्णन सुनी सुनायी बातों के आधार पर नहीं किये गये हैं। सिवाय इसके कि वहाँ की लड़ाइयों के बाद पराजित होकर कुछ आर्य्य भारत आये हों और यहाँ आकर बस गये हों तथा कुछ काल पाकर उनकी गाथायें भारतीय आर्य्यों की गाथाओं मे मिल गई हो, यह बात और किसी प्रकार समझ मे नहीं आती।'

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में भी आर्य्यों को किन्हीं प्रबल-शत्रुओं से लोहा लेना पड़ा। जहाँ तक समझ में आता है यह शत्रु वर्ग पश्चिमी एशिया के असुरो की भाँति सेमेटिक नही था, परन्तु अपने पुराने शत्रुवाची शब्द का व्यवहार करके इन लोगों को भी असुर नाम से पुकारा गया है। ऐसा लगता है कि भारत में कोई बहुत प्रतापी असुर राजवंश था। महाभारत तथा कुछ अन्य ग्रंथों में भी कुछ नरेशों के नाम दिये हुए हैं जिनका चर्चा प्राचीन भारतीय इतिहास में

कई जगह आता है। संक्षेप में, दिति के पुत्र हिरण्यकशिपुके पाँच लड़के हुए : प्रह्लाद, संह्लाद, अनुह्लाद, शिवि और बष्कल। प्रह्लाद के तीन लड़के विरोचन, कुम्भ और निकुम्भ हुए और विरोचन के लड़के बलि। बलि के लड़के का नाम वाण था। दनु के ४० लड़के थे जो दानव कहलाये। इनमें से विप्रति, शम्बर, नमुचि आदि के नाम पुराणों में कई स्थलों पर आये हैं। यह कहना बहुत कठिन है कि इस असुर वंश के नरेशों की राजधानी कहाँ थी। पुराणों के अनुसार उनका निवास पाताल में था। इसका अर्थ यह हो सकता है कि वे लोग दक्षिणी भारत के निवासी थे। इसकी पुष्टि दो तीन बातों से होती है। केरल के निवासियों का यह विश्वास है कि पुराकाल में बलि उनके राजा थे। अब भी वे लोग एक सप्ताह के लिए बड़े धूमधाम से ओनम नाम का उत्सव मनाते हैं, क्योंकि यह धारणा है कि उस समय बलि अपनी प्रजा को देखने आते हैं। मैसूर मे यह धारणा है कि महिषासुर वहीं राज करता था।

इन सब बातों से यह अनुमान हो सकता है कि सम्भवत: असुर वंश का राज्य दक्षिणी भारत में रहा हो, परन्तु एक शंका उठती है। वैदिक काल में आर्य्यों का दक्षिणी भारत से कोई सम्पर्क था, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। उस समय यदि सप्तसिन्धव के पूर्व में समुद्र था तो दक्षिण जाना और भी कठिन था। पुराणो के अनुसार वैदिक काल के बहुत पीछे अगस्त्य के नेतृत्व में आर्य्यों की एक टोली दक्षिणी भारत पहिले पहिले गई। मद्रास और बम्बई की ब्राह्मण अनु-श्रुति भी इस पौराणिक कथा का समर्थन करती है। समुद्र मार्ग से दक्षिण से आना जाना हो सकता था, परन्तु देव और असुर एक दूसरे से लड़ने के लिए समुद्रगामी जहाजों से काम लेते थे, इसका कोई संकेत नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में एक और बात ध्यान देने के योग्य है कि असुर किन्हीं अवैदिक देवों के उपासक नहीं थे। उनके किन्हीं ऐसे उपास्यों के नाम नहीं मिलते जो वैदिक आर्य्यों के उपास्यों से भिन्न रहे हों। असुर परिवार निश्चय ही बलशाली और सभ्य समुदाय था, भले ही कुछ बातों में उनसे आर्य्यों का वैमत्य रहा हो। यदि आर्य्यों और असुरों के उपास्य एक ही थे तो यह भी मानना पड़ेगा कि आर्य्य संस्कृति के विकास में इन समुदायों का भी हाथ था। जहाँ कहीं भी ये दोनों रहते थे वहाँ इस कथा के कई प्रामाणिक अध्याय लिखे गये होंगे। आर्य्यों और असुरों का सम्बन्ध कितना घनिष्ट था, वह इसी कथा से सिद्ध होता है कि देवराज इन्द्र की कन्या जयन्ती से असुरगुरु शुक्राचार्य का विवाह हुआ।

यही उस देव परिवार का पुराकालीन इतिहास है जिसके प्रसार का चर्चा संक्षेप में पुस्तक में किया गया है। इतिहास विषयक अब तक की उपलब्ध सामग्री बहुत थोड़ी है। साधिकार यह नहीं कहा जा सकता कि आर्य्य लोग कहाँ रहते थे या यों कहिए कि आर्य्य संस्कृति का कहाँ उदय हुआ। इस संस्कृति को आर्य्य लोग अनेक देशों में ले गये, परन्तु इसकी कुछ मुख्य धारणायें थीं जो सब जगह उनके साथ गई। उनके कुछ विश्वास थे, रहन-सहन के कुछ ढंग थे, अपनी एक भाषा थी। बहुत से परिवर्तन हुए, फिर भी उन चीजों का नाश नही हुआ। उनको विकसित होने में, एक स्थिर रूप प्राप्त करने में, कुछ समय लगा होगा। उस समय को उन लोगों ने कहाँ बिताया, यह ज्ञात नहीं है। भारतवासी प्रायः ऐसा मानते रहे हैं कि सप्तसिंधव प्रदेश वह भाग्यशाली गह्वर है जिसमें आर्य्य संस्कृति का उदय हुआ, परन्तु आजकल के बहुत से विद्वानों की सम्मति इस मान्यता का समर्थन नहीं करती। इतिहास के रंगमंच पर आर्य्य पाँच हजार वर्ष पहिले आये। यह बात एशिया माइनर के आर्य्यों के सम्बन्ध में तो निश्चय के साथ कही जा सकती है। उस खंड में जिसमें आज लेबनान, जार्डन, इज्राएल तथा इराक के राज्य हैं। खित्ती, मित्तन्नी, काश्य कहीं बाहर से आये, लड़े-भिड़े, बस गये। ईरान के आर्य्यों के इतिहास का भी इस प्रकार का कुछ परिचय मिलता है, परन्तु भारतीय आर्य्यों को इस बात की कोई स्मृति नही थी कि वह कभी बाहर से आये थे। इस विषय की जानकारी अपूर्ण है।

परन्तु आर्य्य चाहे जहाँ रहे हों और जहाँ गये हों उनके उपास्यों, देवो, के सब नहीं तो कुछ नाम सर्वत्र मिलते हैं। वेदों के मुख्य देवों में इन्द्र, वरुण, यम, सूर्य्य, मित्र, नासत्य, विष्णु, रुद्र और अग्नि हैं। इनमे से अधिकांश नाम आज भी हिन्दू समाज में प्रचलित हैं। केवल एक नाम के सम्बन्ध में कुछ अन्तर हुआ है। नासत्य शब्द का व्यवहार वेद मंत्रों को छोड़कर आजकल प्रायः उठ गया है। उनको उनके दूसरे नाम अश्वी से पुकारा जाता है। साधारणतः तो अश्विनी कुमार नाम लोक में अधिक प्रचलित है। इन देवों में से सब का चर्चा आर्य्यों की दूसरी शाखाओं में नही मिलता। कहीं किसी को महत्ता दी गई है, कहीं किन्हीं दूसरे देवों को। उदाहरण के लिए, ईरान में सूर्य्य और अग्नि की प्रधानता है तथा इन्द्र का नाम तक नहीं है। उनकी जगह अहुरमज्द, उरमज्ज, असुरमहत् ने ली है। वैदिक वाङमय में इससे मिलता-जुलता कोई शब्द नहीं है, यद्यपि देवों

के लिए भी असुर शब्द कई स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। पश्चिमी आर्य्यों में अर्थात् खित्तियों और मितन्नियों में इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्यों की पूजा होती थी तथा काश्यों में सूर्य्य की प्रधानता थी, यद्यपि उन लोगों की देव सूची में इन्द्र भी थे।

एक नाम का और भी उल्लेख होना चाहिए। वह है द्यौः। साधारणतः द्यौः शब्द आकाश का वाचक है। परन्तु वैदिक वाङ्मय में इसको और भी गम्भीर अर्थों में प्रयुक्त किया गया है और द्यौः का नाम देव सूची में भी आता है। ऐसा कहा गया है कि 'पृथ्वी मे माता, द्यौः पिता'—पृथ्वी हमारी माता है, द्यौः पिता है। इस मंत्र को देखिए—

द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृळता नः।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलंवियन्त ॥
(ऋक् ६, ५१, ५)

'हे पिता द्यौः, माता पृथ्वी, भ्राता अग्नि तथा वसुओ, आप लोग हमको सुखी करें। हे सब आदित्यगण, हे अदिति, आप लोग मिलकर हम लोगों का बहुत कल्याण करें।' यह द्यौः शब्द यूनानियों में ज्यूस हो गया। यह उनके यहाँ देवराज का नाम था। यही शब्द, द्यौःपितर, इटली वालों में जूपिटर के रूप में आया।

अब प्रश्न यह है कि वह देवगण कौन थे? उनके सम्बन्ध में आर्य्यों की धारणा क्या थी? इस प्रश्न का एक उत्तर नहीं दिया जा सकता। उत्तर का सहारा मुख्य रूप से वेद और उसके बाद अवेस्ता है। यद्यपि पुस्तक के प्रथम खंड में इस प्रश्न पर मुख्य रूप से विचार किया गया है परन्तु यहाँ भी इस विषय पर कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है। वेद मंत्रों की व्याख्या करने में कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है। एक ही मंत्र के दो अर्थ लग सकते हैं और कभी कभी यह कहना कठिन ही नहीं प्रायः असम्भव हो जाता है कि इनमें से कौन-सा अर्थ ठीक है।

उदाहरण के लिए एक सीधा सा वाक्य लीजिए। इन्द्रो वृत्रम् जघान—इन्द्र

ने वृत्र को मारा। सीधा सा वाक्य है और इस अर्थ के द्योतक वेद में कई वाक्य हैं। अब इन तीन शब्दों की व्याख्या कई प्रकार से हो सकती है। पहिले तो ऐतिह्य शैली है। ऐतिह्य का अर्थ हुआ इतिहासमूलक। सचमुच कभी इन्द्र किसी व्यक्ति विशेष का नाम रहा होगा, वह देव रहा हो या मनुष्य, इसी प्रकार वृत्र भी किसी व्यक्ति विशेष का नाम रहा होगा। सम्भव है इन्द्र आर्य्यों के नेता और वृत्र अनार्य्यों के सेनापति रहे हों, दोनों पक्षों में युद्ध हुआ हो और इन्द्र ने वृत्र को युद्ध में मारा हो। वेदो में युद्ध के कई ऐसे वर्णन मिलते हैं। इसी प्रकार कहा गया है—**अस्माकंवीरा उत्तरे भवन्तुः**—'हमारे वीर विजयी हों,' **योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयम् द्विष्मः तम् जम्भेदध्मः**—'जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं उसको दाँतों के बीच रखकर चीर डालें।' **उत्तिष्ठत सन्नह्यध्वम् उदाराः केतुनः सह**— 'उठो और अपने झंडों को ऊपर उठाकर तैयार हो जाओ।' सुदास और १० राज्यो के युद्ध का विस्तृत वर्णन है। ऐसी दशा में ऐतिह्य अर्थ करना कुछ असमीचीन नहीं प्रतीत होता।

कुछ विद्वान् वेदों के सम्बन्ध में इस शैली को स्वीकार नहीं करते। स्वामी दयानन्द सरस्वती का कहना है कि वेद में रूढ़ि शब्द नही है, अर्थात् ऐसे शब्द नही है जो किन्हीं व्यक्ति विशेषों के नाम हो। उनके मत से जितने भी रूढ़िरूपी शब्द देख पड़ते है, वह सब यौगिक हैं अर्थात् ईश्वर के किसी गुण विशेष के द्योतक है, या फिर अविद्या आदि के लिए व्यवहृत हुए है। यह भी वेद मंत्रों की व्याख्या करने की एक शैली है। इस उपर्युक्त व्याख्या का यह अर्थ हो सकता है, 'ईश्वर ने अज्ञान को दूर कर दिया।'

एक दूसरी शैली है जिसको यास्क ने निरुक्त में अपनाया है। यह शैली पाश्चात्य विद्वानों को भी बहुत पसन्द है। इसके अनुसार ऐसे वाक्यां मे किन्हीं प्राकृतिक दृग्विषयों का वर्णन किया गया है। वृत्र का अर्थ है ढकने वाला। यह वैदिक वाङमय में कई जगह कहा गया है कि इन्द्र और सूर्य्य एक ही हैं, **इन्द्रो वै सूर्य्यः** तब इस वाक्य का यह अर्थ किया जा सकता है कि 'सूर्य्य ने बादलों को छेदकर अंधकार को दूर कर दिया।'

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि ऐसे वाक्यों में समाधि भाषा या सांकेतिक

भाषा से काम लिया गया है। उनके मत से इस वाक्य में योग की किसी अनुभूति का वर्णन है जिसमें अंधकार को दूर करके प्रकाश का उदय होता है।

अब इन सब अर्थों में से किस अर्थ को स्वीकार किया जाय? सम्भव है मंत्रकर्त्ता को सभी अर्थ अभीष्ट हों। यह हो सकता है कि उसका मुख्य लक्ष्य अंतिम अर्थ, आध्यात्मिक अर्थ, रहा हो, पर उसको व्यक्त करने के लिए उसने जान बूझकर ऐसी भाषा से काम लिया जिससे दूसरा अर्थ भी लक्षित होता हो। यदि इन्द्र और वृत्र की लड़ाई की स्मृति उस समय चली आती हो तो उसी के वर्णन के बहाने आध्यात्मिक बात कही जा सकती थी। इसी भाँति सूर्य्य और बादल की उपमा से भी काम लिया जा सकता था। इस उदाहरण से प्रतीत हो जायगा कि उन वाक्यों का जिनमें देवों का चर्चा है, अर्थ लगाना कभी कभी कितना कठिन हो जाता है। फिर भी अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि हर जगह स्वामी दयानन्द जी का मत मान्य नहीं हो सकता। आगे चलकर पुस्तक में वेद मंत्रों से कुछ ऐसे उदाहरण दिये गये हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक स्थल पर इन्द्र आदि शब्दों को ईश्वरवाची मान लेना यथार्थ नहीं है। ऐसा मानना चाहिए कि इन्द्र, वरुण, अग्नि किन्हीं विशेष व्यक्तियों के नाम हैं।

वेद में बहुत से ऐसे स्थल हैं जहाँ गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्व स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किये गये हैं। इनमें अनेकता के बीच में उस एकता का प्रतिपादन किया गया है जो भारतीय दर्शन, विशेषतः वेदान्त, की आत्मा है। उदाहरण के लिए :

> इन्द्रम्, मित्रम्, वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
> एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।
> (ऋक् १, १६४, ४६)

लोग उसको इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। वह दिव्य सुन्दर पंखों वाला पक्षी है। एक सत् को विद्वान अनेक नामों से पुकारते हैं। उसको अग्नि, यम, मातरिश्वा कहते हैं।'

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
(ऋक् १, १६४, ३९)

परव्योम में जहाँ सब देव निवास करते हैं अक्षर के ऊपर सब ऋक्, अर्थात् ऋग्वेद के मंत्र स्थित हैं। जो उस अक्षर को नहीं जानना वह ऋक् को लेकर क्या करेगा ? जो लोग उसको जानते हैं वे यहाँ एकत्र है।

ये मंत्र ऐसे हैं जिनको ईश्वरपरक कहा जा सकता है। प्रथम मत्र यह कहता है कि इन्द्रादि जितने भी नाम हैं वह सब उसी एक सत् के लिए प्रयुक्त हुए है। वही एक परमात्मा सभी नामों का आस्पद और सभी गुणों का आधार है। दूसरा मत्र यह कहता है कि परम व्योम में जितने भी देव है सब एकत्र है, वहीं अक्षर के ऊपर ऋचाओं का, अर्थात् वेद मंत्रों का स्थान है। ऋग्वेद के जिस अस्यवामस्य सूक्त का यह मंत्र है उसमें कहा गया है कि परम व्योम में सहस्राक्षरा वाक् रहती है। वहीं सब देवों का निवास बताया गया है। यहाँ भी ऐसा माना जा सकता है। 'देवाः' का अर्थ है सभी नामों के और गुणों से सम्बोध्य ईश्वर। ऋग्वेद के द्वितीय मडल के १२वें सूक्त में कई ऐसे मत्र हैं जिनके अन्त में यह शब्द आते हैं **स जनास इन्द्रः** 'लोगों, वह इन्द्र हैं।' इन मंत्रों में इन्द्र के कई प्रकार के परिचित दिये गये है। उदाहरण के लिए, ५वां मत्र कहता है "**यस्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषोअस्तीत्येनम्**" 'उसको देखते नहीं, लोग पूछते है वह कहाँ है ? कुछ लोग यह भी कहते हैं कि वह नही है।' यह ऐसे स्थलो के उदाहरण है जहाँ इन्द्र शब्द ईश्वरवाची रूप में व्यवहृत हुआ है। ऐसे बहुत से मंत्र अग्नि आदि के लिए भी मिलते हैं। आर्य्य समाज के विद्वान् ऐसा मानते हैं कि देव शब्द विद्वान् ब्राह्मण के लिए व्यवहार में आता है। इसका भी उदाहरण दिया जा सकता है, जैसे :

परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः ।
ययातये नहुष्यस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधिब्रुवन्तु नः ॥
(ऋक् १०, ६३, १)

'जो देवगण दूर से आकर वैवस्वत मनु की सन्तान मनुष्यों से प्रेम करके

उनका धारण करते हैं और ययाति के पुत्र नहुष के आसनों पर बैठे हैं, वे हमारे लिए कल्याणकारी बातें कहें।'

भौतिक दृग् विषयों के भी उदाहरण मंत्रों से दिये जा सकते हैं। ऋग्वेद के दशवें मंडल के १२७वें सूक्त की शाक्त जगत् में बड़ी महिमा मानी जाती है। वह रात्रि सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। उसका पहला मंत्र है :

> **रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः ।**
> **विश्वा अधिश्रियोऽधित ।**

'आती हुई रात्रि देवी चारों ओर अनेक आँखों से देखती हैं। वह सभी शोभायें प्रदान करती हैं।'

इसके आगे सात और मंत्र हैं। उनमें प्रत्यक्ष रूप से रात्रि काल का वर्णन है। इसी दशम् मंडल के १३९वें सूक्त का प्रथम मंत्र कहता है :

> **सूर्य्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयां अजस्रम् ।**
> **तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः ।।**

'सूर्य्यरश्मियों से युक्त हरित वर्ण केशवाले सविता पूर्व दिशा में नित्य ज्योति फैलाते हैं। उन सविता के प्रेरक और रक्षक पूषा सारे भुवनों को देखते हुए जाते हैं।'

उषा के प्रकट होने के बाद और सूर्य्य बिम्ब के निकल जाने के पहिले के काल के अभिमानी को सविता कहते हैं। यों कह सकते हैं कि सूर्य्य बिम्ब के पूर्ण रूप से निकल आने के पहिले जो रूप रहता है उसको सविता कहते हैं। प्रत्यक्ष ही इस मंत्र में सूर्य्योदय काल का वर्णन है। पर जहाँ ऐसे मंत्र हैं वहाँ बड़ी संख्या में वे मंत्र भी हैं जिनकी इस प्रकार व्याख्या नहीं की जा सकती, न सभा मंडप में उपस्थित विद्वानों को उनका उद्दिष्ट बनाया जा सकता है और न ऐसा माना जा सकता है कि उनका संकेत शुद्ध परमात्मा की ओर है; यों तो **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'** मानकर जो कुछ कहा जाय उसका लक्ष्य परमात्मा माना जा सकता है। उदाहरण

के लिए, द्वितीय मंडल के जिस १२वें सूक्त का चर्चा पहिले आ चुका है उसका ही १३वां मंत्र इन्द्र का परिचय इन शब्दों में देता है—

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते ।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥

'हे लोगो, इन्द्र वह हैं जिनके सामने आकाश और पृथ्वी झुकते हैं, जिनके बल से पर्वत डरते हैं, जो सोमपान करने वाले दृढांग वज्रबाहु वज्रधारी हैं।'

इस मंत्र में यदि सोमपान का चर्चा न होता तो ऐसा मान लिया जाता कि वर्षा में होने वाले वज्रपात अर्थात् बिजली गिरने की ओर संकेत है। परन्तु बिजली सोमपान नहीं करती। दूसरी ओर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि यह सब किसी मनुष्य या अन्य साधारण व्यक्ति का विवरण नहीं हो सकता जिससे आकाश, पृथ्वी, सारे पर्वत भय खाते हैं और जो हाथ में वज्र लेकर चलता हो।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याःसन्ति देवाः ॥
(ऋक् १०, ९०, १६)

देवो ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ किया। यह प्रथम धर्म्म हुआ। जिस नाक में पूर्वकालीन साध्य देव हैं उसको वह महात्मा (या महिमा युक्त) पुरुष प्राप्त होते हैं।'

यह तो इस मंत्र का शब्दार्थ हुआ। इसकी व्याख्या तो बहुत विस्तार से करनी होगी तब ही ठीक अर्थ समझ में आ सकता है। थोड़े में, मंत्र का तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ होने के पहिले देवगण ने मानस संकल्प रूपी यज्ञ से यज्ञपुरुष अर्थात् प्रजापति को तुष्ट किया। यज्ञ करने से उनको उन कर्त्तव्यों को पालन करने की प्रेरणा और शक्ति मिली जो उनको भावी सृष्टि में निबाहने थे। उनकी इस यज्ञस्वरूप उपासना से वे प्रथम धर्म्म अर्थात् जगत् को चलाने वाले आदि नियम प्रकट हुए। यही वह धर्म्म है जिनकी ओर ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में संकेत किया गया है:

ऋतञ्चसत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत—प्रजापति के अभीद्ध अर्थात् 'प्रज्वलित तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए'। ऋत् उन नियमों को कहते हैं जिनके अनुसार भौतिक जगत् प्रचलित होता है और सत्य नैतिक जगत् के परिचालक नियमों को कहते हैं। सत्य का ही दूसरा नाम कर्म्म सिद्धान्त है। देवों के मानस यज्ञ से ऋत् और सत्य का उदय हुआ। जो कोई मनुष्य यज्ञ करता है वह महिमाशाली होता है और नाक के उस उत्कृष्ट धाम को प्राप्त होता है जहाँ पहिले के अर्थात् पुराने कल्पों के साध्य देव रहते हैं। इस मत्र की व्याख्या उस प्रकार नहीं की जा सकती जिसका उदाहरण इसके पहिले दिया गया है। इस ढंग का कोई भी अर्थ निकालना मंत्र के अर्थ को अनर्थ में परिणत कर देना होगा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसकी पदार्थ नाम से इस प्रकार टीका की है, "हे मनुष्यो, जो विद्वान् लोग पूर्वोक्त ज्ञान यज्ञ में रत सर्वरक्षक अग्निवत् ईश्वर की पूजा करते हैं वे ईश्वर की पूजा आदि धारणा रूप धर्म्म अनादि रूप से मुख्य है। वे विद्वान् महत्त्व से युक्त हुए, जिस सुख में इस समय से पूर्व हुए साधनों को किये हुए प्रकाशमय विद्वान् हैं उससे सब दुःख रहित मुक्ति सुख को ही प्राप्त होते है। इसको तुम लोग भी प्राप्त होओ।"

मेरी समझ में यह अर्थ कदापि समीचीन नहीं बैठता। पहिले तो इस सूक्त मे सृष्टि से पूर्व के यज्ञ का प्रसंग है। इस मंत्र में उसके लिए अयजन्त और आसन् जैसे भूतकाल सूचक शब्द आये हैं। स्वामी जी ने इनका अर्थ वर्त्तमान कालिक शब्दों से किया है, जैसे अयजन्त के लिए उन्होंने 'पूजा करते हैं' का व्यवहार किया है और आसन् के लिए 'हे' कहा है। यह उनको इसीलिए करना पड़ा कि भूतकालिक अर्थ करने से इस मंत्र का संबन्ध वर्त्तमान कालिक विद्वानों के साथ जोड़ते नहीं बनता।

दूसरी पक्ति में भी नम्रता से कहना पड़ता है कि अर्थ का अनर्थ किया गया है। साध्य का अर्थ किया गया है साधन किये हुए अर्थात् साधन युक्त, दूसरे शब्दों में, साधक। जहाँ तक मैं जानता हूँ साध्य शब्द का यह अर्थ नहीं हो सकता। साधक का जो लक्ष्य होता है, जिसको सामने रखकर साधना की जाती है, उसको साध्य कहते हैं। स्वामी जी परम विद्वान् थे। उन्होंने ऐसी धारणा बना ली थी कि मनुष्यों के अतिरिक्त किसी प्रकार के देवों का अस्तित्व नहीं है।

इसलिए उनको ऐसा अर्थ करना पड़ा। देव होते हैं या नहीं होते, परन्तु मंत्र यह कहता है कि पुरा काल के तपस्वी अपने यज्ञ और तप के बल से नाक में रहते हैं, जो लोग उनका अनुसरण करेंगे वह भी उनकी ही भाँति नाक को प्राप्त होंगे।

वस्तुतः नाक दिक् की सीमा में नही है। वह उस विशेष आनन्दमयी अवस्था का नाम है जिसका अनुभव तपस्वियों और ऊंचे याज्ञिकों को होना है।

एक और उदाहरण देता हूं। दशम मंडल के १४वें सूक्त में सद्योमत अर्थात् तत्काल मरे हुए प्राणी की आत्मा से कहा जाता है :

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ।।

'जाओ, जाओ उस पुरातन मार्ग से जिससे हमारे पहिले के पितृगण गये थे। वहाँ तुम अमृतान्न से तृप्त दोनों राजाओं को देखोगे, यम और वरुण देव को।' (ऋक् १०, १४, ७)

इस मंत्र में स्पष्ट शब्दों में उस अनुभव का चर्चा है जो मरने पर आत्मा को होता है। उससे कहा गया है कि तुमको यम और वरुण नाम के दोनो देवों के दर्शन होंगे। ये शब्द पृथ्वी पर स्थित किन्ही वर्त्तमान-कालीन विद्वानों के लिए नहीं कहे जा सकते। मरने पर किन्हीं दो विद्वानो के दर्शन होने की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। इन शब्दों के द्वारा किसी प्राकृतिक दृग्विषय का भी वर्णन नही प्रतीत होता। परमात्मा के लिए भी इनका व्यवहार नहीं हुआ है। एक तो, पहिली बात यह है कि ईश्वर एक है, मरने पर दो ईश्वरों का दर्शन होगा, ऐसा कहना निरर्थक वाक्य है। दूसरी बात यह है कि यह कहने का क्या तात्पर्य होगा कि दो रूपों में ईश्वर स्वधा से, अमृत से, तृप्त हो रहा है; और तीसरी एक सबसे बड़ी बात यह है कि मरने वाले को ईश्वर का दर्शन क्यों होगा ? यह मंत्र किसी योगी की आत्मा को सम्बोधित करके नहीं कहा गया है। साधारण गृहस्थ का चर्चा है। हर मरनेवाला व्यक्ति ईश्वर-साक्षात्कार का अधिकारी नहीं हो सकता। यदि ऐसा माना जाय तो योग आदि साधना का कोई प्रयोजन नहीं रह जायगा। मरने पर सबको ही ईश्वर का साक्षात्कार हो

जायगा। सभी मुक्त हो जायंगे। ऐसी दशा में तो श्रुति के ये वाक्य झूठे हो जायंगे—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—'ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।'

यावन्न क्षीयेत कर्म शुभमाशुभमेव वा।
तावन्न जायते मोक्षो नृणां कल्पशतैरपि ॥

'जब तक शुभ और अशुभ कर्म्मों का क्षय नहीं होता तब तक सौ कल्पों में भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।'

और अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। यह स्पष्ट ही है कि वेद में देव शब्द और चाहे जिन अर्थों में आया हो परन्तु उसमें किन्हीं विशेष प्रकार के व्यक्तियों को भी अभिलक्षित किया गया है जो मनुष्यों से भिन्न हैं। इसी प्रकार इन्द्र आदि शब्दों का व्यवहार भले ही परमात्मा के लिए किया गया हो परन्तु वह केवल यौगिक शब्द नहीं है। उनके द्वारा किन्हीं ऐसे व्यक्ति-विशेषों की ओर संकेत किया गया है जिनको देव कहा गया है।

मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि वेदों में देव शब्द सर्वत्र एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेद के सम्बन्ध में ऐसा माना जाता है कि उसमें जो कुछ लिखा है वह ईश्वरीय ज्ञान है और वह पुस्तक अपौरुषेय है अर्थात् वेदमंत्रों की रचना किन्हीं मनुष्यों ने नहीं की है। जहाँ तक ईश्वरीय ज्ञान होने की बात है, वस्तुतः सभी सच्चा ज्ञान ईश्वरीय होता है। विज्ञान वेत्ता को अपनी प्रयोगशाला में प्रकृति के जब किसी रहस्य की उपज्ञा होती है तब ऐसा मानना उचित ही है कि वह ज्ञान ईश्वर से प्राप्त हुआ है। कथा प्रसिद्ध है कि आज से कई सौ वर्ष पहिले आर्किमिदीज एक सार्वजनिक स्नानागार में नहा रहे थे। वह नहाते जा रहे थे और इस समस्या पर विचार कर रहे थे कि जब कोई वस्तु पानी में पड़ती है तो उसका कितना अंश डूबता है और क्यों। उनका चित्त इसी विषय पर एकाग्र हो गया था। एकाएक उनकी समझ में यह बात आ गई और सुधबुध यहाँ तक भूल गई कि स्नानागार से निकल कर साइरेक्यूज नगर की सड़कों पर यूरीका कहते हुए अपने घर की ओर नंगे दौड़ गये। यूरीका का अर्थ है 'मैंने उसे पा लिया'! ऐसा

मानना अनुचित न होगा कि आर्किमिदीज़ की मानस अवस्था एक प्रकार की समाधि थी। उनको नहाते समय ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ।

वेदों में भी ईश्वरीय ज्ञान है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु समूचे वेद में ईश्वरीय ज्ञान है यह कहना भी उचित न होगा। उदाहरण के लिए इस मन्त्र को देखिए :

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥
(ऋग् १, १६४, ११)

'बारह अरोवाली पहिया कभी बिगड़ती नहीं, वह ऋत के आकाश के चारों ओर घूमती रहती है, हे अग्नि, तुम्हारे ७२० पुत्र जोड़ों में बँटे हुए वहीं रहते हैं।'

स्पष्ट ही इस मंत्र में कोई ईश्वरीय ज्ञान नहीं है। यहां वर्ष का वर्णन है। यह १२ अरे बारह महीने हैं। साल के ३६० दिन होते हैं जिनके दिन रात दोनों को लेकर ७२० की संख्या होती है। यह बात तो मनुष्य अपने साधारण अनुभव से जान सकता है।

मंत्रों के साथ जिन ऋषियों के नाम गिनाये जाते हैं उनको मंत्रकर्ता न कह कर मंत्रों का द्रष्टा कहा जाता है। ऐसा माना जाता है कि समाधि की अवस्था में यह मंत्र उनकी बुद्धि मे आप से आप ईश्वर की ओर से स्फुरित हुए। ऐसा नहीं हुआ यह तो मैं नहीं कहता, परन्तु वेद में जितने मंत्र हैं सब इसी प्रकार के हैं ऐसा कहना भी कठिन प्रतीत होता है। कुछ मंत्रों से ऋषियों का कर्तृत्वाभिमान प्रत्यक्ष ही झलकता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४वें सूक्त के ५वें मंत्र को देखिए :

पाकः पृच्छामि मनसा विजानन्देवानामेना निहिता पदानि।

'मेरी बुद्धि अपरिपक्व है। मैं मन से इस बात को नहीं जानता हूँ अतः पूछता हूं कि देवों के पद (धाम या निवास स्थान) कहाँ हैं?'

इसी सूक्त के ४९वें मंत्र में ऋषि दीर्घतमा कहते हैं—

'हे धन को देनेवाली, वसुओं का ज्ञान रखने वाली, सौभाग्यप्रद सरस्वती, अपना वह अक्षय स्तन जो सुख का स्रोत है, जिससे तुम सब उत्तम, वस्तुओं का पोषण करती हो, हमारे प्रतिपालन के लिए हमको प्रदान करो।' इन मंत्रों से यह बात निर्विवाद रूप से स्थिर होती है कि यह किसी मनुष्य के हृदय के उद्गार हैं। एतत् सम्बन्धी शंका को दूर करने के लिए मैं एक और मंत्र देता हूं।

हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रति जागराहम्॥
(ऋक—१०, १४९, ५)

'हे सविता, जिस प्रकार अंगिरा के पुत्र हिरण्यस्तूप ने इस अग्नि में आपको आहुति दी थी उसी प्रकार उनका पुत्र मैं अर्चन आपकी वन्दना करता हूँ। जैसे लोग सोम की रक्षा में जागते रहते है उसी प्रकार मैं आपकी सेवा में जागृत हूँ।' यहां इस बात का कोई सन्देह हो ही नही सकता कि इस मंत्र के ऋषि अर्चन मंत्रद्रष्टा नहीं है।

अस्तु, ऋषि लोग मंत्रद्रष्टा रहे हो या मंत्रकर्ता, वेद मंत्र उनके ही द्वारा अवतरित हुए हैं और उनका अवतरण मनुष्य समाज में और मनुष्यों के लिए हुआ था। जो ग्रन्थ मनुष्यों के हित के लिए बनाये जायंगे उनका रचयिता चाहे कोई भी हो, उनमें ऐसी बातें निश्चय ही आयेंगी जिनमें मनुष्यों की अभिरुचि होती है और जिनके द्वारा मनुष्यों का प्ररोचन हो सकता है। मनुष्य दिक् और काल में कहीं न कहीं रहते हैं, किसी प्रकार की जलवायु में पलते हैं। यह कैसे सम्भव है कि उस जलवायु का, वहां की ऋतु का, वहां के प्राकृतिक पर्य्यावरण का, कुछ चर्चा न हो? उपदेष्टा ईश्वर हो या मनुष्य, परन्तु हिमाच्छादित ध्रुव प्रदेश में रहने वालों तथा जलते बालू से आच्छादित मरु देश के निवासियों को उपदेश देने के लिए भाषाओं में अन्तर होगा ही। यदि कोई ऐसी ऐतिहासिक घटनायें हुई होंगी जिनसे जन मानस प्रभावित हुआ होगा तो किसी न किसी रूप में उनका भी चर्चा करना ही होगा। बाइबिल, कुरान, अवेस्ता, इन सब की भाषा काव्यात्मक है। यही अवस्था वेद की है।

शुद्ध याजुष मंत्रों को छोड़कर, जो गद्यात्मक हैं, वेद पद्यात्मक है। साम रूप से वेद मंत्र गाये भी जाते हैं। वेद के प्रत्येक पाठक को यह मानना होगा कि वेद शुष्क पद्य नहीं है, काव्यमय है। काव्य कहने का तात्पर्य यह है कि वह रसात्मक है। वेद मंत्रों से रस का उद्बोध होता है। रस जगानेवाली भाषा में शब्दों के ध्वनितार्थों और व्यंग्यार्थों से काम लिया जाता है। अनेक प्रकार की लक्षणाओं का व्यवहार होता है। काव्यमयी रचना प्रायः अलंकार-बहुला होती है। वेद मंत्रों में अनेक जगह न, इव जैसे शब्दों का उपयोग करके उपमाओं से काम लिया गया है। यह आश्चर्य की बात ही होती यदि ऐसी अवस्था में वेदमंत्रों में प्राकृतिक और मानस अनुभूतियों या ऐतिहासिक घटनाओं का चर्चा न होता। ऐसा चर्चा करने में कवि को शब्दो का व्यवहार ऐसे अर्थों में करना पड़ता है जो लोक में सामान्यतया प्रचलित नही होते। लौकिक भाषा मे भी मनुष्यों को सिह, वृष, ऐसी उपाधियां दी जाती हैं। वेद में भी देव आदि शब्द ऐसे अर्थों में प्रयुक्त हुए हों तो कोई आश्चर्य की बात नही है।

एक और बात ध्यान में रखने की है। कोई भी समाज हो उसके सब मनुष्य एक ही शारीरिक, बौद्धिक या सांस्कृतिक स्तर पर नही हुआ करते। उनके आध्यात्मिक और दार्शनिक स्तरों में भी बहुत अन्तर होता है। हम अपने समाज मे इस बात को प्रत्यक्ष रूप से देख सकते है कि अपने को हिन्दू कहनेवालों में ऐसे भी लोग हैं जिनके लिए पौत्तलिक शब्द उपयुक्त है। यदि वे किसी मंदिर मे जाते है तो उनके लिए वहां प्रतिष्ठित पत्थर या धातु का टुकड़ा ही पूजास्पद होता है। ऐसे लोग उस जगह की भी पूजा करते हैं जहां किसी तथोक्त साधु का शरीर गड़ा होता है। किसी बांस के टुकड़े की भी उपासना करते हैं, किसी पशु के प्रति भी नम्रीभूत होते हैं। उसी मंदिर में ऐसे लोग भी जाते हैं जो तत्रस्थ मूर्ति को प्रतीक मात्र मानते हैं। वे मूर्ति के रूप में अपने उपास्य की स्तुति करते हैं। उसके गुणों के प्रति उनकी श्रद्धा है। दोनों प्रकार के मनुष्य एक ही स्तोत्र पढ़ते हैं, परन्तु उस स्त्रोत के वाच्यार्थ उनके लिए भिन्न भिन्न होते हैं। तीसरे मनुष्य को मूर्ति की भी आवश्यकता नहीं होती। वह अपने उपास्य को धारणा के द्वारा अपने चित्त में ही बैठाता है।

जो बात हिन्दुओं के लिए कही गई है वह और लोगों के लिए भी चरितार्थ

है। जो अवस्था आज है वह आज से सहस्त्रों वर्ष पहिले भी रही होगी। अपने को आर्य्य कहने वाले और इन्द्र आदि भी उपासना करनेवाले सब लोगों का आध्यात्मिक स्तर एक न रहा होगा। एक ही मंत्र, एक ही स्तोत्र, एक ही शब्द, एक ही नाम उनके लिए अलग अलग अर्थ रखते होंगे। आर्य्य संस्कृति में जो लोग थोड़े ही काल से दीक्षित हुए होंगे उनके लिए इन्द्र गरज कर पानी बरसने वाले बादल या स्तनयित्नु, कड़ककर गिरनेवाली बिजली, का नाम होगा। किसी और संस्कृत बुद्धिवाले के लिए इन्द्र उस शक्ति का नाम होगा जो बादल और बिजली को प्रचालित करती है। किसी दूसरे के लिए इन्द्र उस परमात्मा का नाम होगा जो अनेक नामों से, अनेक रूपों से, इस विश्व में व्याप्त है, जो सर्वरक्षक है, सर्वशक्तिसम्पन्न है, सर्वसाक्षी है। किसी योद्धा के लिए इन्द्र असुरों का विजेता होगा, तथा किसी साधक के लिए वह उन व्यक्तियों का प्रधान होगा जो अदृश्य हैं, जो जीवों के कल्याण में रत रहते हैं, जो आततायी को दंड देकर सम्मार्ग पर ले आते हैं। इन सभी प्रकारों के मनुष्य अपने को आर्य्य कहते होंगे, इन्द्र और देव जैसे शब्दों का व्यवहार करते होंगे। किस स्थल पर कौन सा अर्थ रखना चाहिए यह निष्पक्ष बुद्धि की अपेक्षा करता है। न तो सब जगह स्थूल अर्थ से काम चल सकता है, न सर्वत्र सूक्ष्म दर्शनसम्मत अर्थ ही लगाया जा सकता है।

इस पुस्तक में मैंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि आर्य्य लोग प्रायः उन्हीं विशेष प्रकार के व्यक्तियों की उपासना करते हैं जिनकी ओर मैंने ऊपर के अनुच्छेद में सब से अन्त में संकेत किया है। कम से कम उनमें जो सुसंस्कृत लोग थे उनको ऐसा विश्वास था कि विश्व में ऐसे उदात्त प्रकार के प्राणी हैं जो अदृश्य रहते हुए भी मनुष्य के हितसाधन में निरन्तर लगे रहते है। उनके लिए देव शब्द व्यवहार में आता था।

देव शब्द को बाइबिल या कुरान के फ़रिश्ता या एंजिल शब्द के समानार्थक नहीं माना जा सकता। इस्लाम या यहूदी धर्म्मों के अनुसार फ़रिश्तों की सृष्टि ईश्वर ने विशेष प्रकार से और विशेष कामों के लिए की थी। परन्तु देवगण वस्तुतः और जीवों से भिन्न नहीं है। केवल अपने तप के द्वारा उन्होंने अपने को ऊँचे पद पर पहुँचाया है। वह पद नित्य नहीं है। देवत्व मोक्ष से नीचा है।

देवत्व के अन्त होने पर कुछ देवगण जिन्होंने अपने देवत्व काल में विशेष साधना की है मुक्त हो जायंगे। शेष को फिर जन्म लेना होगा। ऐसे ही देवों को आजान देव या साध्य देव कहते हैं। कुछ काल के लिए सत्कर्म्म के बल पर दूसरे मनुष्य भी देवत्व प्राप्त कर लेते हैं, उनको कर्म्म देव कहते हैं। उपासना साध्य देवों की ही की जाती है। वह अपने तप के बल से जिन शक्तियों का उपार्जन कर चुके हैं उनसे इतरद् जीवों को लाभ पहुँचा सकते हैं। मुख्यतया यही लोग आर्य्यों के उपास्य थे और उन्हीं की सूची में काल पाकर परिवर्तन हुए। उसी परिवर्तन को इस पुस्तक में विकास संज्ञा दी गई है।

इस स्थल पर कुछ शब्द पुराणों के सम्बन्ध में भी कहना आवश्यक प्रतीत होता है। मूल पुस्तक में जो लिखा गया है उससे किसी को यह भ्रम हो सकता है कि मैं पौराणिक वाङमय को नितान्त हानिकारक और दूषित मानता हूँ। वस्तुतः यह बात नहीं है। ऐसा कहा गया है कि **आत्मा पुराणम् वेदस्य**—पुराण वेद की आत्मा है। यह बात यथार्थ है। मैंने जो कुछ आपत्ति की है वह पुराणों के वर्त्तमान रूप पर। बहुत से विद्वानों का ऐसा मत है कि पुराणों का मूल कोई एक ग्रन्थ रहा होगा। सम्भव है उसके रचयिता व्यास ही रहे हों। उसी मूल पुराण में एक ओर तो काट छाँट करके और दूसरी ओर बहुत सी नयी बातों का समावेश करके उन ग्रन्थों की सृष्टि की गई हो जो आजकल पुराण और उपपुराण के नाम से प्रसिद्ध हैं। उस मूल पुराण में क्या था इसको जानने का सम्भवतः आज कोई साधन नही है। परन्तु इतना तो प्रतीत होता है कि वह पुस्तक उस प्रकार की न रही होगी जैसे कि आजकल के इतिहास ग्रन्थ होते हैं।

साधारणतः इतिहास की पुस्तकों मे घटनाचक्र का वर्णन होता है। इतिहास का लेखक इस बात का प्रयत्न करता है—कम से कम यह आशा की जाती है कि वह इस बात का प्रयत्न करेगा—कि घटनाओं का यथावत् वर्णन करे। घटना शब्द का व्यवहार यहाँ व्यापक अर्थ में हुआ है। जनता की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्था भी इस शब्द के अन्तर्गत है। जहाँ तक पुराणों को देखने से प्रतीत होता है, मूल पुराण के लेखक का लक्ष्य इससे कुछ भिन्न था। रामायण और महाभारत किसी हद तक इस दिशा में चलते हैं।

इसीलिए उनको प्राचीन काल से ही इतिहास कहा गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणों के रचयिता ने अपने सामने कुछ उस प्रकार का लक्ष्य रखा था जिससे आजकल कम्युनिस्ट विद्वान् प्रेरित हुए प्रतीत होते हैं। इन विद्वानों के सामने एक सिद्धान्त है, जिस पर उनको अटल विश्वास है। उनका यह दृढ़ मत है कि मानव समाज में जो कुछ भी विकास हुआ है उसका नोदन आर्थिक नियमों ने किया है। राजनीति और अर्थ नीति ही नहीं, सामाजिक व्यवस्था और शिक्षा ही नही, वरन् धर्म्म और दर्शन के पीछे भी आर्थिक नियम काम करते हैं। उनके इस सिद्धान्त को इतिहास की आर्थिक मीमांसा कहते हैं। वह घटनाओं का चर्चा करते हैं परन्तु इस प्रकार कि चर्चा के द्वारा इस सिद्धान्त का निरुपण हो। घटनाचक्र में उनको यही सिद्धान्त कार्य करता देख पड़ता है। घटनायें गौण हैं और उनकी महत्ता इतनी ही है कि उनके द्वारा सिद्धान्त का रूप स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ ऐसा ही लक्ष्य मूल पुराण से रचयिता के सामने भी रहा होगा, यद्यपि उनकी आस्था जिस सिद्धान्त पर थी वह कम्युनिस्ट सिद्धान्त से नितान्त भिन्न था। ऐसा लगता है कि वह '**यतो धर्म्मस्ततो जयः**' धर्म्म की ही विजय होती है, इस सिद्धान्त की पुष्टि में ऐतिहासिक घटना चक्र को दिखलाना चाहते थे। उनके लिए भी घटनाओं का महत्व गौण था, उनकी सत्ता और महत्ता केवल उदाहरण के रूप में थी। सर्वत्र यही दिखलाना था कि अन्त मे विजय धर्म्म की हुई। इसलिए घटनाओं का वर्णन है भी तो बहुत ही सूक्ष्म रूप में। प्रकृत्या मूल पुराण में उस समय तक की घटनाओं से काम लिया गया होगा जो उसकी रचना काल तक हो चुकी होंगी। पीछे से जब उसके कई संस्करण हुए तो और भी घटनायें जोड़ी गईं।

गुप्त साम्राज्य के प्रतापसूर्य्य के ढलने के साथ साथ पुराण लिखने का काम भी प्रायः समाप्त हो गया। मुख्य पुराण प्रायः लिखे जा चुके थे। देश छोटे छोटे राज्यों में बँट गया। न तो इतिहास, न भूगोल का व्यापक ज्ञान रह गया। परन्तु मुख्य पुराणों ने फिर भी मूल पौराणिक मर्य्यादा को कुछ हद तक निबाहा। बात केवल इतनी हुई कि न तो वह घटनाओं का पूरा वर्णन देकर इतिहास कोटि तक पहुँच सके, न '**यतो धर्म्मस्ततोजयः**' की पुष्टि ही कर सके।

इसका एक मुख्य कारण था ये पुराण पथभ्रष्ट हो गये। इन्होंने

अपने को साम्प्रदायिकता में उलझा दिया। प्रत्येक पुराणकार किसी देव-देवी की उपासना का प्रचारक बन गया और इस प्रकार के कार्य के लिए दूसरे देव-देवियों की निन्दा करना भी आवश्यक समझा गया। परिणाम यह हुआ कि धर्म्म के स्वरूप का निरूपण न हो सका, फिर उसकी जय किस प्रकार दिख लायी जा सकती थी? परमतदूषण की स्पर्द्धा इतनी आगे बढ़ी कि सभी देव मूर्ख, लोभी, कामी, अपमार्गगामी और निर्लज्ज बना दिये गये। यदि मूल वैदिक उपासना तक अपने को सीमित रखा जाता तो यह बात न होने पाती। कहने को सबने ही अपने को श्रुति का अनुयायी घोषित किया परन्तु पदे-पदे श्रुति की निस्सारता और निरर्थकता प्रतिपादित की गई।

पुराणों मे बहुत सी उपयोगी सामग्री है जिसका अभी पर्याप्त रूप से अध्ययन भी नही हुआ है। इस विषय मे शोध की अपेक्षा है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनमें ऐसी सामग्री भरी पड़ी है जिससे हमारे देश के मध्यकालीन और प्राचीन इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ सकता है। इतना ही नही, आर्य्य जाति के सम्बन्ध मे ऐसे बहुत से ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है जिसका सम्बन्ध आज से कई सहस्त्र वर्ष पहिले के जीवन से है और जो अब विस्मृतप्राय हो गया है। यह वह बातें है जिनके समुच्चय ने उस आर्य्य संस्कृति को जन्म दिया था जिस पर आज भी हम गर्व करते है।

दुःख का विषय यह है कि पुराणों में उपादेय बातों के साथ साथ ऐसी बहुत सी बाते परिलक्षित होती हैं जो उनके पठन पाठन की ओर से अरुचि पैदा कर देती हैं। पुराणों के सम्बन्ध मे आगे के अध्यायो मे जो कुछ लिखा गया है उसको इसी पृष्ठिभूमि मे देखना चाहिए।*

---

*आनन्द के वल्लभ भाई विद्यापीठ के डा० ए० वी० पण्ड्या ने 'आर्य्यों का भारत आगमन' शीर्षक निबन्ध लिखा था। इस भूमिका के लिखने मे मुझको उससे जो सहायता मिली है, उसके लिए मैं डा० पण्ड्या का अनुगृहीत हूँ।

प्रथम खण्ड

वैदिक काल

पहला अध्याय

वेद

हिन्दू समाज की जो कुछ विशेषताएँ हैं, हिन्दू संस्कृति की जो मूल-भूत मान्यताएँ हैं, उन सब का आधार और उद्गम वेद है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है।

कहने का यह तात्पर्य्य नहीं है कि आज के दिन जो लोग हिन्दू कहलाते हैं उनकी संस्कृति को वैदिक संस्कृति कह सकते हैं। संस्कृतियाँ अपरिवर्तनशील नहीं होतीं। अपने सहस्रों वर्ष के इतिहास में भारत ने बहुत से उतार चढ़ाव, बहुत से परिवर्तन देखे हैं। यहाँ कभी वह लोग रहते थे जो अपने को आर्य कहते थे। पर अकेले वह लोग ही इस देश के निवासी नहीं थे। उनके सिवाय वह लोग भी यहाँ बसते थे जिनको द्रविड़ कहना उचित होगा। इन दोनों के अतिरिक्त बहुत बड़ी संख्या उन लोगों की भी थी जिनके वंशज गोंड, भील, कोल आदि नामों से पुकारे जाते हैं। इन सब के अपने रहन सहन के ढंग थे, अपने विश्वास थे, अपनी संस्कृतियाँ थीं। एक देश के रहने वालों का एक दूसरे से प्रभावित होना स्वाभाविक था और इस पारस्परिक आदान प्रदान के परिणाम स्वरूप एक मिली-जुली संस्कृति का उदय होना भी स्वाभाविक था। इस संस्कृति के मुख्य अवयव आर्य्यों और द्रविड़ों के जीवन से आये, यद्यपि आर्य्यों की देन का अंश बड़ा था। यह मिलीजुली संस्कृति ही हिन्दू संस्कृति का पूर्व रूप थी।

पाश्चात्य बिद्वानों ने यह मत फैलाया कि आर्य्य मध्य एशिया के मूल निवासी थे। उन्होंने भारत पर आक्रमण किया और यहाँ के आदिम निवासियों को हरा कर यहीं बस गये। आर्यों के आक्रमण के आगे आदिवासी पीछे हटते गये और अन्त में उनको जंगलों और पहाड़ों में जाकर शरण मिली। मुझे यह मत

समीचीन नहीं प्रतीत होता। इसके लिए पुष्ट प्रमाण नहीं हैं। मनुष्य जाति कब कहाँ प्रकट हुई, कोई नहीं जानता, आज से लाख पचास सहस्र वर्ष पूर्व कौन कहाँ रहता था यह भी निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता, पर यह निश्चित है कि जिस समय हमको आर्य्यों का सबसे पहिले परिचय मिलता है उस समय वे भारत में ही रहते थे, सप्तसिन्धव प्रदेश के निवासी थे। उनको इस बात की कोई स्मृति नहीं थी कि हम लोग कहीं बाहर से आये हैं। वे अपने को विदेशी विजेता के रूप में नहीं देखते थे। अथर्ववेद में पृथिवी सूक्त नाम का प्रसिद्ध सूक्त है जिसमें मातृभूमि की प्रशंसा और वंदना की गयी है, उसमें भी यही कहा गया है कि यही वह भूमि है जिसमें हमारे पूर्वज रहते थे। अतः ऐसा मानना ही ठीक प्रतीत होता है कि आर्य लोग भी इस देश के मूल निवासी थे।

देश पर कई बार आक्रमण हुए। शक, हूण, पठान और मुगल आये। प्रायः जो आया यहाँ बस गया। सब के अपने अपने धार्मिक विश्वास थे, रहन सहन के पृथक ढंग थे, संस्कृतियाँ थी। आदान प्रदान का क्रम चलता रहा। कुछ लोग हिन्दू समाज के अविच्छेद्य अंग बन गये, कुछ अलग रहे। परन्तु सस्कृतियों का संपर्क जारी रहा और उसके फलस्वरूप उस भारतीय संस्कृति का जन्म हुआ जिस पर प्रत्येक भारतीय गर्व करता है। ज्यों ज्यों देश में भावनात्मक एकता की वृद्धि होगी त्यों त्यों भारतीय सस्कृति अधिक विकसित और पुष्ट होगी।

परन्तु यह बात भुलाई नही जा सकती कि भारतीयों में बहुत बड़ी संख्या उन लोगों की है जो अपने को हिन्दू कहते हैं। जो इस्लाम और ईसाई धर्मों के अनुयायी हैं उनमें से भी बहुत बड़ी सख्या हिन्दू कुलों से ही आयी है। अतः परम्परागत हिन्दू संस्कारों, विश्वासो, आचारों का देश मे प्राधान्य है। भारतीय संस्कृति की आधारशिला हिन्दू संस्कृति ही है। अनेक छोटी बड़ी नदियों के मिलने से गंगा का प्रवाह बना है। सब एक दूसरे से ऐसा घुल-मिल गयी हैं कि उनके जलों की पृथक् सत्ता का अब कहीं पता नहीं चलता। परन्तु इस जल-समूह का आदि स्रोत तो वही पावनधारा है जिसे भगीरथ पृथिवी पर लाये थे। उसी ने गंगा को गंगा बनाया है, यों नदियाँ तो बहुत हैं।

इस हिन्दू संस्कृति का परिचय उस वाङमय से मिलता है जिसकी भाषा

संस्कृत है। संस्कृत में भी सहस्रों ग्रंथ हैं जो हिन्दू, मुख्यतः आर्य्य, जीवन के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालते हैं, परन्तु इन समस्त पुस्तकों से प्राचीन और प्रामाणिक वेद हैं। यह सर्वविदित है कि वेद पृथिवी की सबसे प्राचीन पुस्तक है।

ऐसा माना जाता है कि दो प्रकार की पुस्तकों के समुच्चय को वेद कहते हैं : संहिता और ब्राह्मण। कई विद्वान् ब्राह्मण ग्रंथों को वेद संज्ञा नहीं देते। पर संहिताओं के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। संहिताएं कहने को तो चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद; परन्तु वस्तुतः इनको पाँच कहना चाहिए क्योंकि यजुर्वेद की दो पृथक् संहिताएं हैं : कृष्ण और शुक्ल। वेद की संहिताओं में ऋग्वेद का प्रमुख स्थान है, वह सबसे प्राचीन है और उसकी ही छाया पर्याप्त मात्रा में दूसरी संहिताओं पर पड़ी है। वह दस मंडलों में विभक्त है और प्रत्येक मंडल में बहुत से सूक्त है। सूक्त मंत्रों के समूह होते हैं। ऋग्वेद में लगभग साढ़े दस सहस्र मंत्र हैं। प्राचीन आर्य्य जीवन की जितनी अच्छी झलक ऋग्वेद में मिलती है उतनी अन्यत्र अलभ्य है।

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दू देव परिवार के विस्तार का अध्ययन करना है। इस अध्ययन को हिन्दू संस्कृति के आदिकाल अर्थात् वैदिक काल से आरम्भ करना होगा। वेदों में देवों का चर्चा प्रचुर मात्रा में है। यह देखना होगा कि आर्य्यों की दृष्टि में देवों का क्या स्वरूप था।

वैदिक काल कब था, वेद आज से कितने वर्ष पूर्व की बात करते हैं, इस विषय की ओर भी दृष्टिपात कर लेना अप्रासंगिक न होगा। पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि वैदिक काल अधिक से अधिक ईसा से १५०० वर्ष पूर्व जाता है, अर्थात् वह आजकल से ३५०० वर्ष पूर्व के आगे नहीं जाता। इस कथन के लिए कोई प्रमाण नहीं है। पश्चिमी विद्वान, चाहे वह बहुत कट्टर ईसाई न भी हो, बाइबिल से प्रभावित होता ही था। वह बचपन से उसी वातावरण में पला था। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने ईसा से लगभग ६००० वर्ष पूर्व सृष्टि की थी। अतः सारा इतिहास ८००० वर्षों के भीतर भरना था। मिस्र, बैबिलन, यहूदी सभ्यताओं के अवशेष सामने थे। सब बातों को सोचकर उन लोगों ने भारतको

४००० वर्ष दे दिये। मिस्र की प्राचीनता कम से कम ६००० वर्ष तक जाती है परन्तु भारत को इतना पुराना मानना अभीष्ट नहीं था।

परन्तु वेदों का भीतरी साक्ष्य इसके बहुत पीछे जाता है। यह सभी आलोचक मानते हैं कि ऋग्वेद में बहुत उत्कृष्ट कोटि की कविता मिलती है। ऐसी कविता यकायक नहीं मिल जाती। सैकड़ों वर्षों की साहित्यिक प्रगति और साधना के बाद ऊँची कविता, भाव और भाषा से पुष्ट रचना, लिखी जा सकती है। फिर अनेक बार अपने से पहिले के लोगों को याद किया गया है : **अग्निः पूर्वेभिऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत**—अग्नि की उपासना पहिले के ऋषि भी करते थे और नूतन ऋषि भी करते हैं। स्थान-स्थान पर **नः पूर्वेपितरः** हमारे पूर्वपितृगण, नवग्व, दशग्व, (मनवः) मनुजों का चर्चा होता है। इस मनवः शब्द को ही लीजिए। ऋग्वेद में यह स्मृति शेष है कि उस काल के पहिले कई मनु हो गये हैं। मनुकाल के सम्बन्ध में कई मत हैं। उनमें सबसे सीधा मत इस प्रकार है :

चान्द्र वर्ष में ३५५ और सौर वर्ष में ३६५ दिन होते हैं। इस प्रकार दोनों में १० दिन का अन्तर होता है। हम दोनों को मिलाने के लिए प्रति तीसरे साल ३० दिन अर्थात् एक मास बढ़ा देते हैं। यदि ऐसा न किया जाय तो पर्वों में व्यतिक्रम पड़ जाय। वही पर्व कभी जाड़े, कभी गर्मी, कभी वर्षा में पड़ा करें। परन्तु यदि तीसरे साल अधिमास न जोड़ा जाय तो ३५५ सौर वर्षों में दोनो वर्ष आप ही मिल जायंगे। कुछ शास्त्रकारों के मत से एक मन्वन्तर, एक मनु का शासन काल, ३५५ वर्षों का होता है। १४ मन्वंतरों का एक कल्प होता है। इसलिए एक कल्प में ४९७० वर्ष हुए। २, २ मनुओं के बीच मे २, २ वर्ष की सन्धि होती है। इस प्रकार ३० वर्ष सधि के जोड़कर एक कल्प ५००० वर्ष का होता है। दूसरे शास्त्रकारों के मत से एक मन्वन्तर ३,०२,४०,००० वर्षों का होता है। यह संख्या ३५५ से तो बहुत बड़ी है। इसको १४ से गुणा करने से कल्प की आयु आ जायगी। वेद में 'मनवः' (मनुओं) का चर्चा करते समय मन्वन्तर का कौन सा मान दृष्टिगत था, हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते, परन्तु यदि ३५५ वर्ष भी मान लिया जाय तो अपने समय से ३,४ मन्वन्तर अर्थात् कम से कम १२,१३ सौ वर्ष पहिले की ओर संकेत किया गया होगा।

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अपनी विभूतियों का चर्चा करते हुए अर्जुन से कहते हैं :

मासानां मार्गशीर्षोऽहं ऋतूनां कुसुमाकरः ।

'मैं महीनों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में बसन्त हूं।' पुराने भाष्यकारों का इधर ध्यान नहीं गया था। परन्तु बहुत खोज करके लोकमान्य तिलक ने यह निष्कर्ष निकाला कि वेदों में उस समय की स्मृति सुरक्षित है जब मार्गशीर्ष महीने में वसन्त होता था। आजकल तो हम वसन्त पंचमी को माघ में मनाते हैं और वसन्त ऋतु चैत्र में होता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार मार्गशीर्ष में वसन्त आज से १० सहस्र वर्ष पहिले होता था।

कम से कम एक संकेत इससे भी पुराने काल की ओर है। ऋग्वेद के दशम मंडल के ८५वें सूक्त का १३वां मंत्र कहता है :

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥

'सूर्य्य ने अपनी लड़की सूर्य्या को जो सामग्री विवाह में दी थी वह आगे चली। अघा (मघा) नक्षत्र में तो उसको ले चलने वाले बैलों को पीटना पड़ता है, अर्जुनी (फाल्गुनी) नक्षत्र में गाड़ी वेग से चलती है।'

बैल धीरे चले होंगे, इसलिए उनको पीटना पड़ा होगा, उनके तेज़ चलने से गाड़ी वेग से चली होगी। पर इस सब का अर्थ क्या है? पुराने भाष्यकारों का इधर ध्यान नहीं गया। हाल में कुछ भारतीय विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। उनका कहना है कि इस मंत्र में एक ज्योतिष दृग्विषय का वर्णन है।

आजकल २३ दिसम्बर को दिन सबसे छोटा होता है। उस दिन सूर्य्य मूल नक्षत्र में होता है। उसके बाद उसकी उत्तरायण गति आरम्भ हो जाती है। किसी समय अयन परिवर्तन उस समय होता था जब सूर्य्य मघा में होता था। पूर्वा फाल्गुनी से गति बदल जाती थी। मघा में सूर्य्य अगस्त में होता है। मघा

के बाद उत्तरायण का आरम्भ होना, यह बात आज से १७,००० वर्ष पहिले होती थी। यह मंत्र १७,००० वर्ष पुराना है, ऐसा नहीं कहा जाता; परन्तु इसमें उस प्राचीन काल की स्मृति है। पृथिवी पर उस समय भारत के सिवाय अन्य कई देशों में भी मनुष्य थे। मुख्य बात यह है कि जो लोग भारत मे रहते थे उनको ज्योतिष का इतना ज्ञान था कि वे ग्रहों की गतियों से परिचित थे और नक्षत्रों को पहिचानते थे।

प्राचीन अनुभूतियों के और भी प्रमाण वेद में हैं। आज से लगभग २५-३० सहस्र वर्ष पूर्व भारत में कई भूगर्भिक उपद्रव हुए। हिमालय उन दिनों समुद्रमग्न था, विन्ध्य बहुत ऊँचा था। धीरे-धीरे हिमालय ऊपर उठा, समुद्र हटे, भूमि ऊपर आयी। भयानक भूकम्प आये। शनैः शनैः पृथ्वी स्थिर हुई, पर्वत भी स्थिर हुए। वेद मे उस समय की घटनाओं की ओर कई स्थलों पर संकेत हैं। उदाहरण के लिए दूसरे मंडल में १२वें सूक्त का दूसरा मंत्र कहता है :

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंह द्यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात् ।
यो अंतरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तम्नात्स जनास इन्द्रः ।

'हे लोगो, जिसने व्यथित (हिलती डुलती) पृथिवी को दृढ़ किया, जिसने कुपित, चंचल, क्षुब्ध पर्वतों को शान्त किया, जिसने अन्तरिक्ष को फैलाया, जिसने आकाश को स्थिर किया, वह इन्द्र हैं।'

आर्य्यों के निवास स्थान के पास समुद्र था, इसका भी स्पष्ट उल्लेख है। करिक्रतु नाम के ऋषि के सम्बन्ध मे कहा गया है—

उभौसमुद्रावाक्षेति, यश्च पूर्व उतापरः ॥
(ऋक् १०, १३६, ५ः)

'वह पूव और पश्चिम, दोनों समुद्रों तक जाते हैं।'

ऐसे स्थलों का अर्थ लगाने में पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ी धांधली की है। उन्होंने यह मान लिया है कि आर्य्य लोग मध्य एशिया से आये थे। वहाँ कोई समुद्र नही है. इस समय पंजाब में भी जहाँ बाहर से आकर आर्य्य लोग पहिले रुके

होंगे, कोई समुद्र नहीं है। अतः जहाँ कहीं समुद्र या उसका पर्य्यायवाची कोई शब्द आता है यूरोपियन विद्वान उसका अर्थ प्रायः नदी कर देते हैं। परन्तु यह अर्थ ठीक नही है। वेद के शब्द समुद्र के लिए यथार्थ बैठते हैं।

> अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे ।
> यदश्विना ऊहथुर्भुज्यमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥
> (ऋक् १, ११६, ५)

यहाँ कहा गया है कि 'ऐसे समुद्र में जो आलम्बनहीन है, जिसमें टिकने की जगह नहीं है, जिसमें हाथ से पकड़ने की कोई वस्तु नहीं है, अश्वियों ने भुज्यु को सहारा दिया और सौ डाँडे की नाव पर बैठा कर घर भेज दिया।' अनावलम्बन आदि वर्णन समुद्र का ही हो सकता है और सौ डाँडों की नाव समुद्र में ही चलायी जा सकती है। वरुण की प्रशंसा में (ऋक् ५, ८५, ६) में कहा गया है :

> इमाम् नु कवितमस्य माया महीं देवस्य नकिरादधर्ष ।
> एकं यदुद्‌कान् पृणन्त्यं नीरा सिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम् ॥

'यह देव वरुण की महती माया है कि सब नदियाँ बराबर जल डालते हुए भी समुद्र को नहीं भर सकती।' यहा भी 'नदी' जैसा अर्थ नहीं लगाया जा सकता।

पूर्व पश्चिम के समुद्रों का चर्चा तो है ही, दक्षिण के समुद्र का भी उल्लेख है जिसमें सरस्वती गिरती थी। पर वे सब समुद्र कहाँ गये? आज तो सप्त-सिन्धव[1] के किसी ओर भी समुद्र नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर भूगर्भवेत्ता ही दे सकते है। इस शास्त्र के ज्ञाता अब तक की शोध के आधार पर जो कुछ कहते हैं

---

१. ऋग्वेद काल में आर्य्य लोग भारत के जिस भूखंड पर रहते थे उसको सप्तसिन्धव, सात नदियों वाला प्रदेश, कहते थे। वे सात नदियाँ थीं सरस्वती और सिन्धु तथा उनके बीच में सतलज, ब्यास, रावी, चनाब और झेलम।

उसका निचोड़ नीचे के अवतरण में दिया जा रहा है जिसे मैं अपनी पुस्तक 'आर्य्यों के आदि देश' से दे रहा हूँ। ये वाक्य पुस्तक के परिशिष्ट (ङ) से उद्धृत किये जा रहे हैं:

"विद्वानों की अब तक की खोज के अनुसार प्राचीन काल में उत्तर भारत की जो भौगर्भिक अवस्था थी, उसका वर्णन डी० एन० वाडिया ने 'जिआलोजी आव इण्डिया' में किया है। इस सम्बन्ध में डाक्टर बीरबल साहनी का 'करेण्ट सायन्स' के अगस्त १९३६ के अंक मे 'दि हिमालयन अपलिफ्ट सिम दि एड्वेन्ट आव मैन' : इट्स कल्ट—हिस्टोरिकल सिग्निफिकेंस' शोर्षक लेख और 'दि क्वार्टरली जनरल आव दि जिओलोजिकल ऐण्ड माइनिंग मेटार्लजिकल सोसाइटी आव इण्डिया' के दिसम्बर १९३२ के अंक में वाडिया का 'दि टर्शियरी जिओसिक्लाइन आव नार्थ वेस्ट पंजाब ऐण्ड दि हिस्टरी आव क्वाटर्नरी अर्थ मूवमेण्ट्स ऐण्ड ड्रेनेज आव दि गैंजेटिक ट्रफ' शीर्षक लेख बहुत प्रकाश डालते हैं। जो लोग इस विषय का विशेष अध्ययन करना चाहते हों उन्हें यह चीजें तथा एतद्विषयक दूसरी पुस्तकें देखनी चाहिए। यहाँ हम खोज के निचोड़ का जिक्र ही कर सकते हैं।

"बहुत प्राचीन काल में, मध्य एशिया के उस भाग मे, जहाँ आज हिमालय पर्वतमाला है, एक समुद्र था। इसकी चौड़ाई कम से कम ४५० कोस थी। इसको टेथिस सागर कहा जाता है। इसके दक्षिणी तट पर कुछ ऊँची भूमि थी। आसाम और काश्मीर में उन दिनों भी भूमि थी, यद्यपि काश्मीर के बीच में एक बड़ी झील थी। धीरे-धीरे इस समुद्र का तल ऊपर उठने लगा। यही उठा हुआ समुद्र तल हिमालय पहाड़ है। पहाड़ के उठने के साथ ही उसके दक्षिण ओर की भूमि दबती गयी। इस भूमि पर एक समुद्र लहरें मार रहा था। यह समुद्र आसाम की तलहटी से लेकर सिन्ध तक जाता था। इसके उत्तर की ओर इसके और पहाड़ के बीच में जो भूमि थी, उसमें एक महानदी बहती थी। वह आसाम की ओर से आती थी। उसका बहाव उत्तर पश्चिम की ओर था। मखद के पास वह उस जलधारा में मिलती थी, जो आज सिन्धु कहलाती है और यह संयुक्त जल सिन्ध प्रान्त के उत्तरी भाग में कहीं समुद्र में गिरता था। बीच में जो समुद्र पड़ता था, उसमें कुछ तो उत्तर की ओर से मिट्टी पड़ती थी, कुछ दक्षिण

के उस भूभाग से, जो गोंडवाना महाद्वीप का उत्तरीय भाग था, बहकर आती थी। दक्षिण की कई नदियां उन दिनों उत्तरवाहिनी थीं। धीरे-धीरे यह समुद्र भर चला। पहिले तो उसमें से कई बड़ी-बड़ी झीलें बन गयीं, जिसके चारों ओर ऊँची भूमि थी। क्रमश: ये झीलें भी भर गयीं और उत्तर भारत का उत्तर प्रदेश से पूर्वीय बंगाल तक का मैदान निकल आया। इस बीच में हिमालय का उठना जारी था। राजपुताने का समुद्र अपने स्मृति स्वरूप सांभर झील को छोड़कर मरुस्थल बन गया। जो महानदी पूर्व से उत्तर पश्चिम की ओर बह रही थी उसका भी स्वरूप बदला। पहिले तो ब्रह्मपुत्र से सिन्ध तक एक नदी माला बना हुआ था। इसी से भूगर्भ पण्डित इसको इण्डोब्रह्म (सिन्धु ब्रह्म) कहते हैं। अब बीच की भूमि के उठने से यह माला टूट गयी। सप्तसिन्धव या पंजाब की नदियां सिन्धु में मिलीं, पूर्व की नदियां प्रवाह की दिशा बदल कर पूर्ववाहिनी हो गयीं। ज्यों ज्यों पानी हटता गया और भूमि पटती गयी त्यों त्यों इनकी लम्बाई भी बढ़ती गयी, यहाँ तक कि गंगा जो अपने स्रोत से निकलने के थोड़ी ही दूर बाद पश्चिम की ओर घूम जाती थी आज कई सौ मील चलकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है।"

इन बातों से यह स्पष्ट है कि जिन लोगों का ज़िक्र ऋग्वेद में है, जो लोग अपने को आर्य्य कहते थे, वे इसी देश के निवासी थे और उन्हों ने स्वयं उन बड़े भौगर्भिक परिवर्तनों को देखा था जिन्होंने इस देश को उसका वर्तमान रूप दिया था। उनकी सभ्यता बहुत पुरानी थी और आज से सहस्रों वर्ष पहिले उन्होंने ज्योतिष जैसी विद्या के अध्ययन में उल्लेख योग्य प्रगति की थी। हमारा यह कहना नहीं है कि ऋग्वेद का वर्तमान् रूप २०, २५ सहस्र वर्ष पुराना है; परन्तु इतना तो निर्विवाद प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में पुरानी अनुभूतियों की स्मृतियां प्रतिध्वनित हो रही हैं। इन लोगों की संस्कृति का जो रूप ऋग्वेद में हमारे सामने आता है वह सहस्रों वर्षों के विकास का साक्ष्य दे रहा है।

इस ग्रंथ में देवों के सम्बन्ध में प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है। अत: देवों के विषय में अध्ययन करने वाले को इस पुस्तक से जो सहायता मिल सकती है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम अन्य वेद संहिताओं की उपेक्षा कर सकते हैं। ऋग्वेद से जो बातें ज्ञात होती हैं उनकी

पुष्टि अन्य वेदों से होती है। अथर्ववेद के कुछ अंश तो ऋग्वेद के समान ही पुराने प्रतीत होते हैं। सभी वेदों में एक ही विचारधारा, आध्यात्मिक और दार्शनिक मान्यताओं का एक ही सूत्र, अनुस्यूत है। विचारों, विश्वासों और आध्यात्मिक अनुभूतियों का यह समुच्चय बहुत ही गम्भीर और सूक्ष्म है।

पाश्चात्य विद्वानों को ऐसा मानना बड़ा कठिन प्रतीत होता है कि इतने प्राचीन काल में आर्य लोग इतनी गहराई तक पहुँच चुके थे। ऐसी बात उनके अनुभव में कहीं अन्यत्र नहीं आयी। हम विवश हैं। यदि मिस्री, यहूदी या यूनानी इतिहास आर्य्य इतिहास के समानान्तर नहीं चलते तो इसमें आर्य्यों का दोष नहीं है। हाँ, यह अन्वेष्य विषय हो सकता है कि आर्य्य संस्कृति ने औरों से भिन्न मार्ग क्यों पकड़ा और आर्य्यों के पूर्व पुरुषों का चित्त इतने प्राचीन काल मे पारलौकिक विचारों की ओर क्यों झुका।

देवों के सम्बन्ध मे एक और जगह से ज्ञातव्य बातें, प्राप्त हो सकती थीं। पारसियों के धर्म्म ग्रन्थ अवेस्ता में भी उनका चर्चा है। यह ग्रन्थ ज़ेन्द भाषा में है जो वैदिक संस्कृत से बहुत मिलती है। किसी समय पारसियों के पूर्वज भी दूसरे आर्य्यों के साथ ही रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय कुछ धार्म्मिक मतभेद उत्पन्न हुआ जिसकी तीव्रता इतनी बढ़ी कि कुछ लोग समूह से पृथक होकर देश छोड़कर बाहर चले गये। आज सहस्रों वर्ष बाद उस विवाद का कारण और स्वरूप जानना कठिन है। परन्तु इतना अनुमान होता है कि उसका कुछ संबंध इन्द्र से था। ऋग्वेद में कई स्थानों पर 'अनिन्द्रों' (इन्द्र को न मानने वालों) से युद्ध होने का चर्चा है। इन अनिन्द्रों के लिए दस्यु जैसे शब्द का व्यवहार नहीं हुआ जो अनार्यों के लिए प्रयोग में आता था। अवेस्ता में इन्द्र की कही प्रशंसा नहीं मिलती। इससे ऐसा समझा जाता है कि जो लोग इन्द्र के प्राधान्य को नहीं स्वीकार करते थे वे पृथक् हो गये।

स्वदेश से अलग होकर ये लोग कुछ दिनों तक इधर-उधर घूमते रहे, अन्त में ईरान में आकर बसे। इतस्ततः घूमते रहने का गहरा प्रभाव इनकी संस्कृति पर पड़ा। इनके धार्म्मिक विचारों पर पड़ोसियों का बड़ा प्रभाव पड़ा। पश्चिम एशिया में जो विचार प्रचलित थे उनके अनुसार जगत् का रचयिता ईश्वर है,

परन्तु उसके काम में निरन्तर बाधा डालने वाला शैतान भी बहुत शक्तिशाली है। पारसियों की भी यही मान्यता है। शैतान को, जो मनुष्य को सत्पथ से डिगाने में निरन्तर यत्नशील रहता है, अंग्रिमैन्यु कहते है।

अवेस्ता वेद के बराबर पुरानी पुस्तक नहीं है। यदि पारसी लोग स्वदेश छोड़ने के पहिले कोई धर्म्म संहिता लेकर चले भी थे तो यहाँ वहाँ भ्रमण करने में वह खो गयी। वेदों में वाणी को बहुत महत्त्व दिया गया है। प्राचीन काल में पाणिनि जैसे वैयाकरण का जन्म नहीं हुआ था, फिर भी व्याकरण के नियमों का बहुत ख्याल किया जाता था। भाषा नियमबद्ध हो चली थी। इसलिए धर्म्म संहिता (वेद) की रक्षा हो सकी। पारसी इस विषय में उतने सफल न हो सके।

धार्म्मिक वैर विरोध का एक विलक्षण परिणाम यह निकला कि दो शब्दों का इतिहास ही बदल गया। बहुत प्राचीन काल में देव और असुर समानार्थक, थे। जिसको देव कहते थे उसको असुर भी कहते थे। वेदों में कई जगह ऐसे प्रयोग आये हैं। तीसरे मंडल के ५५वें सूक्त के सभी २२ मंत्रों में देवों के महान् असुरत्व का चर्चा है। वृत्रासुर को जिसका वध इन्द्र ने किया था देव कहा गया है। परन्तु पीछे से यह परम्परा छूट गयी। देव शब्द केवल अच्छे अर्थ में और असुर केवल बुरे अर्थ में प्रयुक्त होने लगे। भारत में पठान राज्य स्थापित होने के बाद फ़ारसी का देव शब्द हमारे यहाँ आया। आज भी कहानियों में काला देव, लाल देव के नाम सुन पड़ते है। देवगण के लिए हमने 'देवों' कहना ही छोड़-सा दिया, 'देवताओं' कहने लगे। ईरान में उल्टी बात हुई थी। वहाँ देव शब्द का अर्थ बुरा हो गया था। असुर अच्छा हो गया, यहाँ तक कि ईश्वर को अहुरमज्द (असुर महत्), बड़ा असुर, कहने लगे।

यदि यह सब परिवर्तन न हुए होते तो हमको पारसियों के धार्म्मिक वाङमय से बहुत सहायता मिल सकती थी। परन्तु धार्म्मिक विवाद और कलह ने उस द्वार को बंद कर दिया।

वेदों का अर्थ निकालना बहुत सुकर नहीं है। केवल कोष और व्याकरण

से काम नहीं चलता। जैसा कि हम आगे के अध्यायों में दिखलाएंगें, वेदार्थ बहुत-सा लुप्त हो गया है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कई स्थलों पर जान-बूझ कर ऐसी भाषा का व्यवहार किया गया है जो वास्तविक अर्थ पर पर्दा डाल देती है। व्याकरण और कोष की सहायता से जो अर्थ निकलता है वह या तो समझ में नही आता या देखने से ही अपर्याप्त प्रतीत होता है। ऐसा कहा भी जाता है कि वेद का अर्थ अनृषि (जो स्वयं ऋषि नहीं है) नहीं लगा सकता।

ऋषि का पारिभाषिक अर्थ है मंत्रद्रष्टा, मंत्रों को देखने वाला। भारतीय परम्परा के अनुसार ऋषि लोग मंत्रकर्ता, मंत्रों के रचयिता, नहीं थे। समाधि की अवस्था में किसी मनुष्य की बुद्धि को परमात्मा की बुद्धि से आंशिक तादात्म्य प्राप्त होता था और उस दशा में उसको जिस ज्ञान की तात्कालिक उपलब्धि होती थी उसको वह समाधि से व्युत्थित होकर शब्दों में व्यक्त करता था। भाषा भले ही उसकी हो परन्तु प्रेरणा का स्रोत ईश्वर था। ऐसा व्यक्ति ऋषि कहलाता था। यह बात स्वभावतः पाश्चात्य विद्वानों को अमान्य है। खेद की बात यह है कि कई भारतीय विचारक भी पाश्चात्यों का अनुकरण करते हैं। अभी हाल में ही डा० कुन्हन राजा की पुस्तक 'दि पोएट फ़िलासोफ़र्स आव दि ऋग्वेद' निकली है। उनके मत में ऋषि लोग कवि दार्शनिक थे, ऐसे कवि थे जो दार्शनिक तथ्यों पर मनन करते थे या ऐसे दार्शनिक थे जो अपने दार्शनिक ऊहापोह को काव्यमयी भाषा का जामा पहिनाते थे। इस धारणा में भले ही थोड़ा सा सत्यांश हो परन्तु इसमे वेदार्थ पर पर्दा पड़ जाता है। सत्य की अनुभूति तर्क से नही होती। सत्य प्रतिभा में स्वयं उदय होता है और उसका स्तर तर्क की भूमि से ऊपर होता है। सत्य को सदैव सर्वसुगम भाषा में व्यक्त करना सम्भव नहीं होता, श्रेयस्कर भी नहीं होता। इसीलिए ऋषियों को बहुधा समाधिभाषा से काम लेना पड़ता था; संकेतों, प्रतीकों और लक्षणाओं का व्यवहार करना पड़ता था। ऐसी भाषा के भीतर प्रवेश करने के लिए तैयारी की, साधना की, आवश्यकता होती है। इसके बिना वेद का रहस्य समझ में नहीं आ सकता और वेद मंत्रों के ऐसे अर्थ लगाने पड़ते हैं जिनकी स्थूलता बराबर खटकती रहती है। एक ही उदाहरण पर्य्याप्त है। वेद में कहा गया है कि बल नाम के असुर ने गउओं को बंद कर दिया था। इन्द्र ने उसको मारकर गउओं को छुड़ाया।

भिनद्वलमंङ्गिरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत् ।
रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥

(ऋक् २, १५, ८)

'बल के द्वारा जो दृढ़ अवरोध रूप से पर्वत खड़े किये गये थे उनको इन्द्र ने हटा दिया और बल को मार डाला।'

इस प्रकार के कथनों का यह अर्थ लगाया जाता है कि या तो यह रात के अन्धकार को फाड़कर सूर्य्य के उदय होने और प्रकाश रूपी गऊ के उद्धार का वर्णन है या बादलों के फटने से वर्षा के जल के उन्मुक्त होने का। हो सकता है यही अर्थ हो; पर यह शंका तो उत्पन्न होती ही है कि जिस पुस्तक को इतना ऊँचा पद दिया गया है उसमें इस साधारण प्राकृतिक दृग्विषय का बार-बार वर्णन क्यों आता है ? इसमें कही कोई और गम्भीर अर्थ तो नहीं छिपा है ? यह स्मरण रखना चाहिए कि अकेले गौ शब्द के वेद में अनेक पर्य्याय हैं, जैसे पृथिवी, रश्मि, वाक्, अघ्न्या, उस्रा, उस्रिया, अही, मही, अदिति, इला, जगती और, शक्वरी। कब कौन सा अर्थ लगाया जाय, यह विचारणीय विषय बन जाता है। सर्वत्र गम्भीर आध्यात्मिक अर्थ ढूँढ़ना भूल है। परन्तु सर्वत्र स्थूल अर्थ करना भी उतनी ही बड़ी भूल है। वेद में योगी का गोप्य अनुभव भी है और साधारण बोलचाल भी है।

इस भूमिका को आँख से ओझल कर लेने से वेद का अर्थ नहीं लग सकता। यह बात तो पाश्चात्य विद्वानों के सामने भी आयी कि ऋग्वेद के दशम मंडल में नासदीय और पुरुष सूक्त जैसे कई सूक्त हैं जिनमें दार्शनिक प्रश्नों पर विचार किया गया है। उनके मत से इतने प्राचीन काल में मनुष्य ऐसे प्रश्नों पर गम्भीर विचार नहीं किया करता था। इस शंका का समाधान यों कर लिया गया कि यह अंश पीछे से जोड़ दिया गया है। दुःख का विषय यह है कि बहुत से भारतीय भी वेदों का अध्ययन स्वयं नही करते। जो अँग्रेजों की लिखी पुस्तकों में पढ़ते हैं उसी पर विश्वास कर लेते हैं। संहिता भाग पढ़ा नहीं जाता। यह मान लिया जाता है कि उसमें नीरस कर्म्मकाण्ड है, सूखे यज्ञ हैं। उपनिषद् पढ़े जाते हैं और यह मान लिया जाता है कि उनमें बौद्धिक विद्रोह की अभिव्यक्ति हो रही है। कर्म्मकाण्ड से ऊबकर कुछ लोगों का ध्यान दर्शन की ओर गया। उन्होंने ही

उपनिषदों की रचना की, ऐसे ही लोगों ने दशम मंडल के दार्शनिक सूक्त बनाये। समाज मे प्राधान्य के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में बराबर संघर्ष रहता था : ब्राह्मणों ने कर्म्मकाण्ड अपनाया, क्षत्रिय लोग दार्शनिक विचारों में पुरोगामी हुए।

यह सारी कल्पना निराधार है। उपनिषदों की आधारशिला संहिता है। बिना इस अंश को जाने उपनिषदों का भी रहस्य यथार्थ रूप से समझ में नहीं आ सकता। लोग इस बात को भूल जाते हैं कि ब्रह्मज्ञान के मुख्य प्रपोषक श्री वेदव्यास और भगवत्पाद श्रीमच्छंकराचार्य्य ने दोनों अंगों के अध्ययन का समर्थन किया है। शंकराचार्य्य ने वेदान्त दर्शन के, प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म विज्ञासा' के भाष्य में अथ और अत: शब्दों की व्याख्या करते हुए दिखलाया है कि संहिता भाग के ज्ञान से सम्पन्न हुए विना मनुष्य ज्ञानकाण्ड का अधिकारी ही नहीं होता। दर्शन वेद के शेष अंश का विरोधी नही है, एक से दूसरे को बल मिलता है। इसी से कहा है "मंत्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—सहिता और ब्राह्मण का ससंयुक्त नाम वेद है)।

ऋग्वेद के दशम मडल को पीछे से जोड़ा हुआ मानना निराधार तो है ही, ऐसा मानने से कोई सुविधा भी नही होती। शेष नव मंडलों में भी स्थान स्थान पर गम्भीर दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं। इसके सिवाय न जाने कितने ऐसे वाक्य हैं जिनका अर्थ योग शास्त्र का आश्रय लिए विना लग ही नहीं सकता। प्रक्षिप्त कह कह कर, कहाँ-कहाँ से क्या क्या काटकर निकाला जायगा ?

मैं इसके समर्थन में वेद से कुछ अवतरण दूंगा। ये अवतरण प्राय: ऋग्वेद और अथर्ववेद से लिए गये है क्योंकि वेद का यह अंश प्राय: सबसे पुराना माना जाता है। देखने से ही स्पष्ट हो जायगा कि पाश्चात्य विद्वानों का सिद्धान्त यहाँ लागू नहीं होता।

हम इस प्रसिद्ध वाक्य से आरम्भ करते हैं—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

'वह पदार्थ एक है, विद्वान् उसे अनेक नामों से पुकारते हैं।'

इस छोटे से वाक्य में जो सत्य प्रतिपादित किया गया है वह निःसन्देह दार्शनिक है। उसे वेदान्त का निचोड़ कह सकते हैं। यह मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४वें सूक्त का ४६वाँ मंत्र है। यही सत्य दूसरे दृष्टिकोण से प्रथम मंडल के ७९वें सूक्त के १०वें मंत्र में व्यक्त किया गया है :

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

'अदिति आकाश, अदिति अन्तरिक्ष, अदिति माता, वही पिता और पुत्र है, अदिति सब देवगण है, अदिति सब मनुष्य है, अदिति वह सब है जिसका जन्म हुआ, अदिति वह सब है जिसका जन्म होगा।'

स्थूल दृष्टि से अदिति का अर्थ पृथिवी है। महर्षि यास्क के निघण्टु में इसकी गणना 'गौ' के २१ पर्य्यायों में हुई है। 'गौ' शब्द का भी अर्थ पृथिवी है। वहाँ इन इक्कीसों शब्दों को **पृथिवीनामधेयानि** कहा गया है। अदिति का एक नाम देवमाता भी है। उनकी सन्तान होने से देवों के एक गण को आदित्य कहते हैं।

अदिति शब्द की लंबी व्याख्या यहाँ अपेक्षित नहीं है। अदिति कुछ भी या कोई भी हो, पर यहाँ उसका सारे जगत् से तादात्म्य दिखलाया गया है, केवल वर्तमानकालीन जगत से नहीं, किन्तु अतीत और भविष्यत् से भी। यह कैसे माना जाय कि इस वाक्य में दार्शनिक तथ्य निहित नहीं है?

ऋग्वेद के छठे मंडल के ४७वें सूक्त का १८वाँ मंत्र इन्द्र के विषय में कहता है :

...प्रतिरूपं बभूव......इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

'उन्होंने अपनी माया से अनेक रूप धारण किये।'

इसके साथ यजुर्वेद के इस मंत्र को मिलाइये :

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

शुक्ल यजुर्वेद के नरमेधाध्याय का यह १९वाँ मंत्र है। इसके अनुसार प्रजापति गर्भ में जाते हैं। जन्म न लेते हुए भी अनेक रूपो में जन्म लेते हैं। उनकी योनि को, वास्तविक स्वरूप को, जिसमें सब भुवन स्थित हैं धीर पुरुष देखते हैं।

इस मंत्र को देखिए। यह प्रथम मंडल के १६४वें सूक्त का ४५वाँ मंत्र है:

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

'वाणी के चार पाद या स्थान हैं जिनको मनीषी ब्राह्मण जानते है। उनमें से तीन गुफा मे, गुप्त स्थान में, छिपे हुए हैं, उनको लोग नहीं जानते। चौथी वाणी को मनुष्य बोलते हैं।'

वैयाकरणों का कहना है कि वाणी के चार पाद नाम, आख्यात्, उपसर्ग और निपात हैं। उदाहरण के लिए यह वाक्य लीजिए: "वाह, न्यायाधीश ने अपराधी को भली भाँति प्रताड़ित किया"। इसमे "न्यायाधीश ने" नाम है, "अपराधी को भली भाति ताड़ित किया" आख्यात है, ताड़ित के साथ लगा हुआ "प्र" उपसर्ग है और "वाह" निपात है। यह एक सरल उदाहरण है। इन शब्दों की परिभाषा व्याकरण के ग्रन्थों में मिलती है। इस मंत्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने भी निरुक्त में इस सम्बन्ध में विशद विचार किया है।

परन्तु मेरा विश्वास है कि इस जगह यह अर्थ नहीं लग सकता। पहिले तो ऐसा अर्थ मंत्र के भाव को बहुत संकुचित कर देता है। कई ऐसी भाषाएं हैं जिनमें उपसर्ग का प्रायः अभाव है। उनके सम्बन्ध में यह मंत्र निरर्थक हो जायगा। फिर, यह मंत्र जिन मंत्रों के साथ आया है वहाँ व्याकरण का प्रसंग भी नहीं है, प्रायः दार्शनिक भाव के ही मंत्र आये हैं। तीसरी बात यह है कि चार मे से कोई भी अंग गोप्य नहीं है जिसको समझने के लिए धीर और मनीषी की आवश्यकता हो। साधारण विद्यार्थी भी उनको समझ लेता है। स्पष्ट ही, यहाँ दूसरे प्रकार से मीमांसा करनी होगी जिसके लिए योगशास्त्र की सहायता लेनी होगी।

योगी कहता है कि वाणी के चार रूप हैं। पहिला रूप वैखरी है। जो कुछ उच्चार्य्य है, जो कुछ मनुष्य, पशु, जलचर, कीट, के मुंह से निकलता है वह सब वैखरी है। यह सबसे स्थूल रूप है। इसके स्वरूप को समझना श्रम-साध्य नहीं है, क्योंकि सभी इसका व्यवहार करते हैं। यदि "कै" जैसी ध्वनि निकालनी है तो जिह्वा कंठ का स्पर्श करती है और वायु उस स्थान से टकराती है। इसी प्रकार सभी ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं। थोड़ा-सा ध्यान देने से प्रतीत हो जायगा कि इसके पीछे एक सूक्ष्म रूप है। यह सोचिये कि हम जब चुपचाप मन में बोलते हैं तब क्या होता है। जिह्वा अपने स्थान से हिलकर कंठ तक तो नहीं जाती परन्तु उसमें हल्का कम्पन होता है और वायु का हल्का धक्का कंठ पर लगता है। तभी अस्फुट "क" की ध्वनि उठती है। यह ध्वनि भी श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य है, इससे भी कान के पर्दे पर आघात होता है, परन्तु मुख से उच्चरित न होने के कारण दूसरे के मन की बोली नहीं सुनी जा सकती। वाणी के इस सूक्ष्म रूप को मध्यमा कहते हैं। प्रत्येक भाषा का वैखरी रूप तो अलग है ही, मध्यमा रूप भी अलग ही होगा। वाणी का इससे भी सूक्ष्म एक रूप है जिसे पश्यन्ती कहते है। वह सभी भाषाओं का, सभी बोलियों का, बीज है। उसका ज्ञान किसी ऊँचे योगी को ही होता है। पंतजलि ने योगदर्शन में संयम करने की वह विधि बतलायी है जिससे "**सर्वभूतरुतज्ञानम्**" (सब प्राणियों की बोली का ज्ञान) हो जाता है। सबसे ऊपर, सबसे सूक्ष्म रूप है परा। ध्वनि दो प्रकार की होती है, आहत और अनाहत। दो या अधिक वस्तुओं के टकराने से उत्पन्न ध्वनि आहत, अपने से होने वाली अनाहत है। परा आहत अनाहत सभी की खान है और स्वतः अनुच्चार्य्य है। उसी से फूट कर सभी दूसरे स्वन निकले हैं। जगत् के आदि में जो क्षोभ, कम्पन, हुआ उसके साथ ही परा का उदय हुआ। उसको इसी सूक्त के ४१वें मंत्र से **सहस्राक्षरा परमे व्योमन्** (परम, सबसे परे, आकाश में सहस्राक्षरा) कहा है। जैसा कि वेदों में अन्यत्र भी देखा जाता है सहस्र का तात्पर्य होता है असंख्य। यह स्पष्ट ही है कि मध्यमा पश्यन्ती और परा तक सब की पहुँच नहीं हो सकती। परा तो बड़े ही ऊंचे योगी, सच्चे मनीषी ब्राह्मण, के अनुभव की वस्तु है।

मैं एक उदाहरण और देकर इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। अगला अवतरण अथर्ववेद के १६वें अध्याय का ६२वाँ सूक्त है।

अष्टाचक्रा नवद्वारा, देवानाम्पूरयोध्याया,
तस्यां हिरण्मयः कोशः सुवर्णज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन् हिरण्मये कोशे, त्रिदिवे त्रिप्रतिष्ठिते,
तस्मिन् यदन्तरात्मन्वत्, तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

'आठ चक्र और नव द्वार वाली देवों की जो अयोध्यापुरी है, उसमें प्रकाश से आवृत हिरण्मय (स्वर्णमय) कोश है जो स्वर्ग है। उस स्वर्ग में तीन पर प्रतिष्ठित (तीन पर आश्रित) हिरण्मय कोष में, जो अन्तरात्मा जैसा पदार्थ है उसको ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं।'

यहाँ इस मंत्र की व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि नवद्वारवाली पुरी यह शरीर है। परन्तु शेष का भाव तो अनुभवी योगी ही समझ सकता है। जैसा कि स्वयं मंत्र कहता है, उसे ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं।

ऐसे अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं; पर इतने ही पर्याप्त हैं। इनमें से कोई भी ऋग्वेद के दशम् मंडल से नही लिया गया है। इनसे यह सिद्ध होता है कि वेदों में ऐसे विषय भरे पड़े हैं जिनका सम्बन्ध योग और दर्शन, मुख्यतः वेदान्त, मे है। ऐसे विषय भोले भाले गड़ेरियों, व्रात्यों और कृषकों की बौद्धिक उड़ान के बहुत ऊपर हैं।

किसी भी देश और समाज के सब व्यक्ति किसी भी समय में एक से नहीं होते। बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास में भेद होता ही है। पुराकालीन आर्य्यों में भी यह बात रही होगी। कुछ लोग जादू, टोना, टोटका को मानते होंगे, कुछ प्राकृत शक्तियों पर विश्वास करते होंगे। परन्तु जिस समय हमको सबसे पहिले उन लोगों का परिचय मिलता है—मेरा तात्पर्य ऋग्वेद काल से है—उस समय आर्य्य समाज मुख्यतया इन बातो के आगे बढ़ गया था। वह जगत् के नानात्व के पीछे एकत्व की सत्ता का अनुभव कर रहा था।

अब उसके चित्त में इस प्रकार के प्रश्न उठ रहे थे :

पृच्छामि त्वां परमन्तः पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
पृच्छामि त्वां वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥
—ऋक् १, १६४, ३४ ।

'मैं तुमसे पूछता हूँ कि पृथिवी का अन्त कहाँ है, पूछता हूँ कि विश्व की नाभि (या केन्द्र) कहाँ है, तुमसे पूछता हूं कि इस बरसनेवाले घोड़े का मूल क्या है, पूछता हूँ कि वाक् का परम व्योम कहाँ है?'

वेद में सूर्य्य को कई जगह बरसने वाला अश्व कहा गया है। यह प्रश्न भी, जो तृतीय मंडल के ५४वें सूक्त के ५वें मंत्र में पूछा गया है, द्रष्टव्य है :

को अद्धा वेद क इह प्रवोचद् देवा अच्छा पथ्या का समेति ।
ददृश्र एषामवमासदांसि, परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥

'कौन निश्चय के साथ जानता है और कौन बतलायेगा कि देवों तक पहुँचनेवाला मार्ग कौन सा है? हम देवों के निचले सदनों को तो देखते हैं परन्तु उनके ऊँचे और गुप्त स्थानों तक, जिनका चर्चा व्रतों में हैं, कौन सा मार्ग जाता है?'

ये कोरे प्रश्न नहीं थे। उनके उत्तर भी थे, पर ये उत्तर बौद्धिक व्यायाम, तर्क, से प्राप्त नहीं हो सकते। उनका उदय उस बुद्धि में होता है जिसके सारे कषाय योगाग्नि में भस्म हो गये हैं। इसीलिए यह प्रार्थना की जाती थी :

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च, विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं, स नो बुध्या शुभया संयुनक्तु ॥

'जो देवों का प्रभव और उद्भव है अर्थात् निमित्त और उपादान कारण[1]

१—जिस पदार्थ से कोई वस्तु बनती है वह उपादान कारण और जिस साधन से बनती है वह निमित्त कारण कहलाता है। जैसे मिट्टी घड़े का उपादान और कुम्हार निमित्त कारण है।

है, जो विश्व का स्वामी है और सर्वत्र व्याप्त है, जिसने जगत् के कर्ता हिरण्य-गर्भ को पहिले जन्म दिया था, वह रुद्र हमको शुभ बुद्धि दे।' इस प्रकार से उपलब्ध ज्ञान को उन लोगों ने अपने पास छिपाकर रखने का यत्न नहीं किया। वेद का आदेश है :

इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।

'इस कल्याणमयी वाणी को मनुष्यमात्र को सुनाओ।'

परन्तु वैदिक ऋषि आर्य्य जनता के नासमझ नेता नहीं थे। वे लोगों में बुद्धिभेद उत्पन्न करके अव्यवस्था और उच्छृंखलता नहीं लाना चाहते थे। वे जानते थे कि सब लोग योगी और ब्रह्मज्ञानी नहीं बन सकते। इसलिए जहाँ कभी कभी स्पष्ट शब्दों का प्रयोग करते थे वहाँ बहुधा समाधि भाषा से काम लेते थे। समाधिभाषा में वाक्यों और शब्दों का अर्थ केवल कोश और व्याकरण से नही लगता। कुछ अर्थ तो निकलता है, परन्तु बोलने वाले का पूरा पूरा भाव व्यक्त नहीं होता। इतना ही नही, कभी कभी तो बिल्कुल ही छिपा रह जाता है। पहेली सी बन जाती है। ऋषियों ने ऐसी भाषा से बहुत काम लिया है। पुराने शब्द, पुरानी उपमाएँ, पुरानी गाथाएँ, पुराने विश्वास सबका उपयोग हुआ है। पुराने धातुओं को नये साँचे मे ढाल दिया गया है, पुरानी भाषा को नये अर्थ पहिना दिये गये है। यह एक दिन में नही हुआ। यह समयापेक्ष था। साधारण अधिकारी उद्विग्न नहीं होने पाया, उसके सामने खोजकर ऐसी बातें नही रखी गई जो उसकी अनुभूतिशिला से बहुत ऊँची थीं, परन्तु उसके आध्या-त्मिक विकास का स्तर धीरे-धीरे उठाया गया। वह पुरानी भाषा के ही द्वारा नूतन अर्थों से परिचित कराया गया। एक ही भाषा स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के अर्थों का माध्यम बनी।

ऋग्वेद के पाठ से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। आज वह गुह्य अर्थ बहुत सा खो गया है। पहेली है पर कुंजी नहीं मिलती और उसके मिले बिना वेद का अर्थ लग नही सकता। जो अर्थ निकाला जायगा वह या तो अधूरा होगा या भ्रान्त। पिछले कई सौ वर्षों में वेद के सबसे बड़े भाष्यकार सायण हुए हैं। वेदार्थ की कुंजी उनको नहीं मिली या फिर उन्होंने उसे ढूंढा नहीं। उन्होंने वेद

मंत्रों से वहाँ तक ही काम लिया जहाँ तक उनका उपयोग यज्ञों में हो सकता है। इसके लिए अर्थ की गहराई में जाना उनको स्यात् आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ।

वेदों में 'अग्नि' शब्द बहुत आया है। ऋग्वेद का पहिला मंत्र ही अग्निदैवत है, उसका अग्नि से सम्बन्ध है। वह कहता है :

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारम् रत्नधातमम् !

इसमें अग्नि को पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नों के धारण करनेवालों में श्रेष्ठ कहा है। पुरोहित ऋत्विक् और होता वे लोग होते हैं जो यज्ञ करने में यजमान को सहायता देते हैं। अग्नि में आहुति डाली जाती है। परन्तु पुरोहित आदि शब्द उसके लिए कैसे आये? ऋग्वेद के दशम मंडल के ४५वें सूक्त का दूसरा मंत्र कहता है :

विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ॥

'हे अग्नि, मैं तुम्हारे तीनों स्थानों और तीनों रूपों को जानता हूँ, मैं तुम्हारे उस धाम को जानता हूँ जो अनेक प्रकार से सुरक्षित है, मैं तुम्हारे उस नाम को जानता हूँ जो परम गुहा में है अर्थात् परम गोपनीय है, मैं उस कुंड को जानता हूँ जहाँ से तुम निकले हो।'

अग्नि को रुद्र से तदात्म माना गया है यथा, **त्वमग्ने रुद्रः**, उसे मृत्युशीलों, जीवों, में विद्यमान अमर तत्व कहा गया है :

इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु। ६. ९. ४।

'यह मर्त्यों में अमृत ज्योति है।'

और उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। अग्नि उस रुद्र से अभिन्न है जो देवों का निमित्तोपादान कारण है और जगत् के निर्माता हिरण्यगर्भ का भी

जन्मदाता है, अग्नि प्राणियों में स्थित अमर, अनश्वर तत्व, प्राण या जीवात्मा है, अग्नि का यज्ञ करने कराने वाले से अभेद है, अग्नि योगियों के अनुभव का पदार्थ है और साथ ही अग्नि सामने रखा हुआ वह जलता पदार्थ है जिसमें आहुति डाली जाती है तथा वह सत्ता है जिससे यह प्रार्थना की जाती है :

धूरसि धूर्व धूर्वन्तम् ।

'तुम आग हो, जो हमको जलाता है, हमसे द्वेष करता है, उसको जला दो।'

ये थोड़े से निदर्शन हैं, विस्तार भय से और नहीं दिये गये। वेद को ध्यान से देखने से ऐसा विदित होता है कि आरम्भ में एक सत्ता थी, एक देव था, एक सत्पदार्थ था, जो 'रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव' (अनेक रूपधारी हो गया)। सारा विश्व उसी का रूप है। वह अमृत, अमर है। उसका साक्षात्कार योगियो को ही हो सकता है। जगत् की रचना के आरम्भ मे वह तीन रूपों मे विभक्त हुआ, एक देव से तीन हुए। ये देव है अग्नि, वायु और सूर्य्य। अग्नि नीचे के भूर्लोक का, वायु बीच के भुवर्लोक का, और सूर्य्य ऊपर के स्वर्लोक का संचालन कर रहा है। यह पृथिवी पर जलनेवाली आग, शरीर में लगनेवाली हवा और आकाश में चमकनेवाला सूर्य्य वास्तविक अग्नि, वायु और सूर्य्य के प्रतीक और बाहरी रूप मात्र हैं। आग की काली, कराली मनोजवा आदि सात जिह्वाओं का वर्णन करके, ऐसी ही दूसरी लाक्षणिक भाषा की आड़ में आध्यात्मिक बातें कही गई हैं, परन्तु नयी अनुभूति के चर्चे में पुरानी धारणाओं का खंडन नही किया गया है। अग्नि वही है, जिसकी बुद्धि जितनी सूक्ष्म हो वह उतना ही इस तत्व में प्रवेश करे। इसीलिए ऋग्वेद का दूसरा मंत्र कहता है कि :

अग्निः पूर्वेभिर ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।

'अग्नि की उपासना पहिले के ऋषियों और नवीन ऋषियों ने समान रूप से की । परम्परा का कही उच्छेद नहीं हुआ है।'

समाधि भाषा का एक और उदाहरण लीजि :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति ॥
—ऋक् १. १६४. २० ।

'दो चिड़ियाँ जो एक दूसरे के समान और एक दूसरे की मित्र हैं एक ही पेड़ पर बैठी हैं। उनमें एक उस पेड़ के फल खाती है, दूसरी फल नहीं खाती, देखती रहती है।'

इस मंत्र के कई प्रकार के अर्थ किये जाते हैं। किसी के मत से ईश्वर और जीव दोनों चिड़ियाँ हैं। जीव संसार रूपी वृक्ष के भोग रूपी खट्टे मीठे फल खाता रहता है। ईश्वर कूटस्थ साक्षी, फलाफल से परे है। दूसरे विद्वानों के मत में यहां सांख्य दर्शन का समर्थन किया गया है। संसार रूपी वृक्ष पर जो दो पक्षी बैठे हैं उनमें एक तो सामान्य पुरुष है जो भोग और सुख दुख के बन्धन में जकड़ा हुआ है, दूसरा वह पुरुष है जो प्रकृति के बन्धन से निकल कर कैवल्य प्राप्त कर चुका है। कोई भी अर्थ ठीक हो, पर यहाँ प्राकृतिक विषय बहुत नीचे रह गये हैं ।

अथर्ववेद के १५वें अध्याय को व्रात्यकांड कहते हैं। साधारणतः उसका कोई अर्थ लगता ही नहीं। पाश्चात्य विद्वानों ने उसे दुरूह कह कर छोड़ रखा है। स्वयं सायण ने अपने अथर्व भाष्य में इसको छोड़ दिया है। कई वर्षों के परिश्रम के बाद मैंने इसका कुछ अर्थ निकाला है। मैं नहीं कह सकता कि मेरा प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है। परन्तु इस कांड का जब भी अर्थ निकलेगा तो योग की ही कुंजी का सहारा लेना होगा।

आजकल व्रात्य उस ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को कहते हैं जिसका उपनयन शास्त्रोक्त समय पर नही हुआ है। इस जगह यह अर्थ कदापि नहीं लग सकता। उदाहरण के लिए, सातवाँ मंत्र कहता है :

नीलमस्योदरम् लोहितं पृष्ठम् ।

'इस (व्रात्य) का उदर नीला और पीठ लाल है।' स्पष्ट है कि यह

किसी मनुष्य के शरीर का वर्णन नहीं हो सकता। मुख्यतः इस कांड के मंत्रों में या तो योगी की ओर संकेत है या ईश्वर की ओर, जिसको रुद्र के रूप में याद किया गया है। परन्तु क्या कहा गया है उसका समझना नितान्त कठिन है।

व्रात्य की कई दिशाओं में यात्राओं का चर्चा है। मैं नीचे एक यात्रा का उदाहरण देता हूँ।

स उदतिष्ठत्। स प्राचीं दिशमनुव्यचलत्। तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन्। श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीशो रात्री केशा हरितो प्रवर्तो कल्मलिर्मणिः। भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दो मनो विपथं मातरिश्वाच पवमानश्च विपथवाहो वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः। कीर्तिश्च यशश्च पुरः सरावेनं कीर्तिर्गच्छत्या यशोगच्छति य एवं वेद।

'वह उठा और पूर्व की ओर चला, बृहत् और रथंतर साम तथा सब देव उसके पीछे चले। श्रद्धा पत्नी थी, सूर्य्य मागध (भाट) था, विज्ञान वस्त्र था, दिन पगड़ी था, रात्रि केश थी, सूर्य्य और चन्द्रमा कान के आभूषण थे, तारे मणि थे, भूत और भविष्यत् परिचर थे, चित्त रथ था, प्राण और सोम घोड़े थे, वायु सारथी था, आँधी लगाम थी। कीर्ति और यश रथ के आगे दौड़नेवाले भृत्य थे। जो मनुष्य इस बात को जानता है वह यश और कीर्ति प्राप्त करता है।'

वेदार्थ कितना निगूढ़ है इसके कहाँ तक उदाहरण दिये जायें। ऊपर जो थोड़े से निदर्शन दिये गये है वे पर्य्याप्त होने चाहियें। उनसे यह भ्रम तो दूर हो ही जाना चाहिए कि वेद में केवल कर्म्मकाण्ड है या स्तुतियाँ भरी पड़ी हैं। साथ ही यह भ्रम भी दूर हो जाना चाहिए कि सर्वत्र वेद का अर्थ लगाना सरल है।

इसी ग्रंथ से हमको पूछना है कि प्राचीन काल में आर्य्य लोगों की देवों के सम्बन्ध में क्या धारणा थी।

दूसरा अध्याय

देव शब्द के विषय में भ्रान्त धारणाएं

इस अध्याय का शीर्षक अनावश्यक और कुछ आश्चर्यजनक सा प्रतीत होता है। देव शब्द आबालवृद्ध सभी की जिह्वा पर रहता है, देव या उसके पर्य्याय के रूप में देवता का व्यवहार शिक्षित अशिक्षित सभी करते हैं। ऐसे शब्द की व्याख्या क्यों की जाय जिसको सभी जानते हैं?

इस स्थल पर कुछ बातें ध्यान में रखने योग्य हैं। शब्द प्रचलित है परन्तु इसमें सन्देह है कि सब लोग इसके अर्थ को ठीक ठीक समझते हैं या बोलते समय इसका एक ही अर्थ सब की बुद्धि में रहता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, देव और देवता के अर्थ में भी अन्तर है। यह भी निश्चित होना चाहिए कि जो कुछ भी अर्थ आजकल हमारे सामने है, वही प्राचीन काल में भी लोगों को अभीष्ट था। यदि ऐसा नहीं था तो हमको यह जान लेना चाहिए कि प्राचीन काल में लोग इसका व्यवहार किस अर्थ में करते थे। इस सम्बन्ध में भारतीय विद्वत्परंपरा और पाश्चात्य विचारधारा में बड़ा अन्तर है। आज का शिक्षित समाज न तो भारतीय मत को जानता है, न उसका समादर करता है।

भारतीय पंडितों के पास प्रमाण के रूप में वेद, विशेषतः ऋग्वेद, है। यह पृथिवी पर सबसे प्राचीन पुस्तक है। इसमें देवों का चर्चा प्रचुर मात्रा में है। पाश्चात्य विद्वान् भी वेद की उपेक्षा नहीं करते। उससे समाजशास्त्र, धर्म्म, दर्शन आदि पर बहुत प्रकाश पड़ता है। परन्तु वेद के अतिरिक्त प्रमाणों से भी काम लिया जाता है। वर्त्तमान काल की बर्बर और अर्धसभ्य जातियों के जीवन का अध्ययन किया जाता है और सभ्य जातियों की प्रथाओं तथा रस्मरवाजों पर मनन किया जाता है। इस प्रकार के गम्भीर विमर्श के बाद विद्वज्जन कुछ निष्कर्षों पर पहुंचे हैं जिनको संक्षेप में इस प्रकार समझ सकते हैं।

आज से कई लाख वर्ष पहिले जब मनुष्य की पहिले सृष्टि हुई तो वह अपने समकालीन पशुओं मे से बहुतों से दुर्बल था। शरीर बहुत बलवान् नहीं था, न तीखे दाँत थे, न सींग, न पंजे। उसकी बुद्धि औरों से प्रखर थी। वही उसका मुख्य शस्त्र भी था। नंगा घूमता था, गुफाओं में छिपकर रहता था। ऐसे प्राणी को धर्म्म और उपासना जैसी बातो का भला क्या ज्ञान होता? अन्य पशुओं की भाँति वह भी पशु था, जिसका जीवन भोजन करने, भोजन के लिए लड़ने और अपने प्राणों की रक्षा के लिए लड़ने में बीतता था। प्रमाण तो नहीं है, परन्तु अनुमान किया जा सकता है। मनुष्य चाहे कितना भी जंगली हो, फिर भी मनुष्य ही था। उसकी बुद्धि दूसरे पशुओं से पैनी थी ही। सम्भव है उसका ध्यान सूर्य चन्द्र की गति, वर्षा और आतप की ओर गया हो; सम्भव है वह किसी के मरने पर शोक के साथ भय का अनुभव करता हो, कभी कभी स्वप्न में चौक पड़ता हो। ऐसी दशा में उसके चित्त में अव्यक्त भावनाएँ उठती हों, भय और कुतूहल कभी कभी सताते हों। यदि ऐसा होता होगा, और होना असम्भव नही है, तो यह कह सकते हैं कि उन लोगों के चित्तों में वे अंकुर निकल चुके थे जिन्होने आगे चलकर धर्म्म का रूप धारण किया। इस शंकामय स्तर पर पहुँचने में भी इस नूतन पशु जाति की सहस्रों पीढ़ियाँ बीत गयी होंगी।

जीवन की नौका आगे बढी। मनुष्य के शत्रु कई कारणों से दुर्बल पड़ते गये। मनुष्य का पक्ष सुदृढ़ होता गया। उसने पत्थर, फिर धातुओं, से काम लेना सीखा, नये हथियार बनाये, झोपड़ियाँ बनायीं, छाल और खाल को शरीर पर 'लपेटा' और सबसे बड़ी बात यह है कि आग जलाने की विद्या उपार्जित की। यूनानियो के अनुसार प्रामेथ्यूज़ पहिले मनुष्य थे जो आग को पृथिवी पर लाये। भारतीय परम्परा इसका श्रेय अंगिरा को देती है। अस्तु, इस प्रकार ज्यो ज्यों मनुष्य आगे बढ़ा, उसके जीवन में निःशंकता बढ़ती गयी, वह जांगलिक से बर्बर हुआ, शिकारी से पशुपालक और फिर कृषक बना। जहाँ पहिले व्रात्य रूप से एक जगह से दूसरी जगह घूमता फिरता था, वहाँ अब स्थिर बस्तियों में रहने का अभ्यास पड़ा, किसी न किसी रूप में क्रय-विक्रय करना आया।

इन परिवर्तनों के साथ जीवन में सुरक्षा भी आयी। अब प्रतिपद ज्ञान

हथेली पर रखकर निकलना नही था, प्रत्येक व्यक्ति के पीछे उसका गाँव या खेड़ा होता था। जब बहुत से लोगों को एक साथ रहना था तो व्यवस्था भी आयी, सम्पत्तिसंग्रह, स्त्रीसंग्रह आदि के नियम बने, युद्ध तक पर कुछ परिसीमन हुआ। इन बातों ने भय और आशंका के पर्य्यावरण को पतला किया और सोचने का अवकाश दिया।

यह बात तो बहुत शीघ्र अनुभव में आ गयी होगी कि कई प्राकृतिक दृग्विषय क्रमबद्ध रूप से आते हैं। चन्द्रमा पन्द्रह दिन तक घटता रहता है, फिर पन्द्रह दिनों में बढ़ता है। जाड़ा, गर्मी और वर्षा का भी नियत क्रम है। अमुक अमुक फल और पौधे अमुक अमुक निश्चित समय पर ही उपलब्ध होते हैं। परन्तु कुछ ऐसी घटनायें है जिनमें कोई निश्चितता नहीं है। बिजली कब गिरेगी, मनुष्य या पशु कब मरेगा, कोई नहीं बता पाता। प्रकृति की लीला का परिचय केवल जानकारी के लिए नहीं था, उसका वैयक्तिक और सामुदायिक जीवन से गहरा संबन्ध था। कुछ घटनाएँ हितकर थीं, कुछ अहितकर। स्वभावतः जो हितकर घटनाएँ है मनुष्य उनको पसन्द करता है, जो अहितकर हैं उनसे डरता है। इसलिए ज्यों ज्यों मनुष्य ने उन्नति की, उसका यह प्रयत्न रहा कि अच्छे दृग्विषय होते रहें, बुरे न हों। और तो कोई साधन नही था, खुशामद का ही भरोसा था। गद्य और पद्य, विशेषतः पद्य , में अच्छे अर्थात् हितकर दृग्विषयों की प्रशंसा और स्तुति की जाती थी, बुरों से प्रार्थना की जाती थी कि कृपया हमसे दूर रहिये, हमको और हमारे परिवार को क्षमा कीजिए। बिजली, बादल सूर्य्य, गरज, आग, हवा, जल, ये सभी उपासना अर्थात् प्रशस्ति और स्तुति के पात्र बन गये।

आदिकाल के यही देव हैं। परन्तु कुछ आगे चलकर एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। विचारों में और सूक्ष्मता आयी। यह प्रतीत होने लगा कि जो भौतिक पिण्ड या दृग्विषय हमारे सामने आते हैं वे वास्तविक देव नहीं हैं, देव उनके भीतर उनको व्याप्त करके स्थित हैं। बिजली या आग स्वयं उपासना की वस्तु नहीं है। कोई शुद्ध अदृश्य शक्ति है जो इन स्थूल वस्तुओं के द्वारा काम करती है। इस प्रकार देव शब्द के अर्थ में क्रमिक विकास हुआ। पहिले तो प्राकृतिक दृग्विषय स्वयं पूजा के पात्र देव थे, फिर वह सूक्ष्म शक्तियाँ जो इन

दृग्विषयों में व्यक्त होती हैं देव मानी गयीं। एक ही क़दम आगे बढ़ना था। शक्ति और शक्तिमान् एक दूसरे से अभिन्न हैं। यह बात सहज ही ध्यान में आयी कि कुछ ऐसे अदृश्य व्यक्ति हैं जिनकी शक्तियों का अभिव्यंजन प्रकृति में हो रहा है, यही महापुरुष विश्व का संचालन कर रहे हैं। यही देव हैं।

धार्म्मिक विचारों का विकास सर्वत्र इसी क्रम से हुआ है, ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का मत है। जो अन्यत्र हुआ वह भारत में भी हुआ होगा ऐसा मानना चाहिए। वेद में जिन देवों के नाम आते हैं उनमें से कई तो प्राचीन यूनान आदि में भी प्रचलित थे। भारतीय सभ्यता भी बर्बर स्तर को पार करके उसी स्तर पर पहुँची थी जहाँ यूनानी सभ्यता आकर टिकी थी। अतः ऐसा मानना उचित है कि वैदिकयुग मे देव शब्द प्राकृतिक दृग्विषयों के लिए या उन प्राकृतिक शक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो इन दृग्विषयों के द्वारा प्रकट होती है। यह माना जा सकता है कि कहीं कही विचारों की उड़ान उन व्यक्तियों तक पहुँची हो जो उन शक्तियों के स्वामी माने जाते थे। यदि कहीं 'इन्द्र' शब्द आया है तो वह या तो बादल के लिए प्रयुक्त हुआ है, या उस शक्ति के लिए जो बादल से पानी बरसाती है या फिर स्यात् उस किसी व्यक्ति के लिए जो अपनी शक्ति से बादल के द्वारा पानी बरसाता है। वास्तविक देव तो बादल था, जो प्रत्यक्ष है, शक्ति और शक्तिधर पीछे की कल्पनाएँ हैं। यदि यह मत ठीक है तो वेद की संहिताएँ पुराकालीन कृषकों और पशुपालकों तथा उनके पुरोहितो के बनाये हुए गाने हैं। इन गानों में प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन है, किन्ही ऐतिहासिक घटनाओं का चर्चा है और प्राकृतिक दृग्विषयों, उनकी प्रेरक शक्तियों और फिर शक्तिधरों की प्रशंसा, स्तुति और याचना है। उन लोगों के पुरोहितों ने यज्ञ नाम की कुछ क्रियाएँ निकाली थीं जिनसे वे समझते थे कि दैवी शक्तियों को प्रभावित किया जा सकता है। ऐसे भी पद्य है जिनके पाठ के द्वारा देवों पर दबाव डालने का स्पष्ट प्रयास होता था। आज भी जादू टोना करने वाले अपने मन्त्रों से प्रेत पिशाचादि पर दबाव डालने का प्रयत्न करते देख पड़ते हैं और आग में कुछ पढ़ पढ़कर आहुति भी डालते हैं। उन भोले भाले लोगो ने सोम नाम की उस मादक वस्तु को भी देवपद दे डाला था जिसको नशे के लिए पिया करते थे। वेद को देखने से प्रतीत होता है कि उन लोगों का जो अपने को आर्य्य कहते थे इस विषय में कोई स्पष्ट मत नही था कि मरने के उपरान्त क्या होता है। वे प्राण, आत्मा,

जीव जैसे शब्दों का व्यवहार प्रायः समान अर्थ में करते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय उनके कोई स्पष्ट दार्शनिक विचार नहीं थे।

मैं पाश्चात्य विद्वानों के श्रम का आदर करता हूँ, परन्तु उनसे सहमत होने में अपने को असमर्थ पाता हूँ। वे जो कुछ कहते हैं, सब निराधार है, यह मेरा कहना नहीं है। मेरा भी यह विश्वास है कि मनुष्य के धाम्मिक विचारों का उद्भव और विकास कुछ उसी प्रकार हुआ होगा जिसका वर्णन इन विद्वानों ने किया है। स्पष्ट प्रमाण हो या न हो परन्तु मैं यह भी मान लेता हूँ कि आर्य्यों के धाम्मिक विचार भी कभी इसी प्रकार विकसित हुए होंगे। परन्तु मेरा ऐसा भी विश्वास है कि जिस समय पहिले पहिले आर्य्य लोग इतिहास के मंच पर आते हैं उस समय वे उन पुराने विचारों का अतिक्रमण कर चुके थे। इतना ही नहीं, ऋग्वेद काल से बहुत पहिले आर्य्य संस्कृति वह मोड़ ले चुकी थी जो ऋग्वेद में व्यक्त हो रही है। जिस बौद्धिक और आध्यात्मिक पीठ पर ऋग्वेद का आर्य्य बैठा देख पड़ता है वह कुछ सहस्र वर्षों से उसको प्राप्त था। हम ऋग्वैदिक काल के पहिले आर्य्यों के सम्बन्ध में बहुत कम जानते हैं। उनका किस किस से कितना सम्पर्क हुआ था, मुख्यतः सुमेरिअन सभ्यता और संस्कृति का कहाँ तक प्रभाव पड़ा था, यह सब अनुमान और खोज का विषय हो सकता है, परन्तु मुझको इसमें कोई सन्देह नही हैं कि ऋग्वेद काल का आर्य्य प्रकृति के दृग्विषयों की मूर्तिमती तथा कल्पित शक्तियों का उपासक नहीं था, उसके देव कुछ और ही थे। यदि कोई यह पूछना चाहे कि केवल भारतीय आर्य्यों की आध्यात्मिक उन्नति ऐसी क्यों हुई, तो इस प्रश्न का उत्तर यहाँ नहीं दिया जा सकता। वस्तु-स्थिति यह है कि वे इस क्षेत्र में दूसरों से बहुत आगे बढ़ चुके थे।

यदि वेद न होते तो हमको प्राचीन काल की दूसरी जातियों की भाँति आर्य्यों के विश्वासों के सम्बन्ध में भी अटकल लगानी पड़ती। यह काम बहुत कठिन होता क्योंकि आर्य्य लोग ईंट पत्थर की कृतियाँ नहीं छोड़ गये हैं। परन्तु सौभाग्य से वे वेद छोड़ गये हैं। हम वेद से ही पूछ सकते हैं कि आर्य्य अपने देवों को किस दृष्टि से देखता था ? परन्तु वेद की सहायता लेने के पहिले हमको उन बातों को ध्यान में रखना होगा जिनका चर्चा पहिले अध्याय में हुआ है। वेद ईश्वरकृत हों या मनुष्यकृत, परन्तु हैं वे मनुष्यों के लिए। उनके आदेशों और

उपदेशों के पात्र सभी देशों और कालों के मनुष्य भले ही हों, परन्तु वेद किसी काल विशेष और देश विशेष में प्रकट हुआ और एक भाषा के द्वारा अवतरित हुआ। उस भाषा के शब्द वेद के लिए नये-नये नहीं बने, पहिले से बोले जा रहे थे, साधारण जनता में प्रचलित थे। अतः उनमें से बहुतों ने अपने साथ ध्वनितार्थ बटोर लिये थे। उनके अभिधार्थ मात्र को जान लेना पर्य्याप्त नहीं हो सकता। कहीं-कहीं प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन होंगे, कहीं-कहीं उपमाओं से काम लिया गया होगा, ऐसी उपमाएं भी हो सकती हैं जो आजकल के लोगों के अनुभव से बाहर से हों। कहीं ऐतिहासिक घटनाओं का चर्चा हो सकता है। कहीं-कहीं अर्थवाद से काम लिया गया होगा। मनुष्य के लिए जो रचना होगी उसमें ये सब बातें होंगी। इनको ध्यान में रखकर ही वेदार्थ का निर्णय करना होगा। कहीं-कहीं तो शब्दों का प्रयोग जान बूझकर अप्रचलित अर्थों में किया गया है। मीमांसा के आचार्य्यों[1] ने वेद की व्याख्या करने की समुचित विधि पर बहुत प्रकाश डाला है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए वेद के अर्थ को ढूंढ़ना चाहिए। मेरा ऐसा विश्वास है कि ऐसा करने से उस मत के प्रति, जिसका प्रतिपादन पाश्चात्य विद्वान् करते हैं, आप से आप सन्देह होने लगेगा, अश्रद्धा हो जायगी। स्वयं मैक्समुलर ने उषा सम्बन्धी वैदिक रचनाओं की प्रशंसा करते हुए कहा था—"परन्तु क्या उषा ही सब कुछ है?" यही प्रश्न सूर्य्य, बादल, बिजली आदि के सम्बन्ध में हो सकता है। यदि वेद में इन्हीं सब बातों का चर्चा भरा है तो उससे तो जी ऊब जाना चाहिए। कविता कहाँ तक पढ़ी जायगी? और फिर प्राकृतिक दृश्यों के एक से एक सुन्दर वर्णन संस्कृत, हिन्दी, बंगला आदि भाषाओं में कवियों ने किये हैं। आर्य्य और उनके वंशज आज के हिन्दू भी बड़े पागल लोग होंगे जो उन पुरानी पद्य रचनाओं को आज तक पढ़े जा रहे हैं जब कि उनसे अच्छी काव्य सामग्री वर्तमान है! इतना ही नहीं, उन पुरानी कविताओं को पवित्र

१—अर्थवाद एक प्रकार की अतिशयोक्ति है जो वैदिक वाङ्मय में कई जगह प्रयुक्त हुई है। जैसे, किसी कृत्य की ओर रुचि दिलाने के लिए उसकी प्रशंसा में कह दिया जाता है 'इसको पुराकाल में गउओं ने किया था, उनको अमुक-अमुक लाभ हुआ।'

मानते चले आ रहे हैं और ज्ञान तथा धर्म्म का अटूट भंडार मान रहे हैं। जो भी वेद का पारायण करेगा उसके चित्त में यह भाव उठे बिना रह नहीं सकता कि सूर्य्य, अग्नि, वायु, रात्रि, उषा जैसे परिचित शब्दों के द्वारा कोई-न-कोई अपरिचित अर्थ व्यक्त किया जा रहा है। कोई न कोई रहस्य है जो पकड़ में नहीं आ रहा है, परन्तु उसकी प्राप्ति के बिना वेदार्थ छिपा रह जाता है। ऐसा लगता है कि जान बूझकर अर्थ के ऊपर शब्दों का पर्दा डाला गया है।

हम पहिले अध्याय में कई ऐसे मंत्रों को उद्धृत कर आये हैं जिनका अर्थ पाश्चात्य विद्वानों के मत के अनुसार नहीं लग सकता। देवों के पुर अयोध्या या देवों को साथ लेकर व्रात्य की पूर्व दिशा की ओर यात्रा का किन्हीं प्राकृतिक दृग्विषयों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। विष्णु संबंधी दो मंत्र हैं :

इदं विष्णुर्विचक्रमे, त्रेधा नि दधे पदम् ।
समूळहस्य पांसुरे ।
(ऋक् १, २२, १७)

और,

त्रीणि पदा विचक्रमे, विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्म्माणि धारयन् ।
(ऋक् १, २२, १८)

'विष्णु चले, उन्होंने तीन पाँव रखे, उनके पाँव की धूलि से विश्व भर गया। अजेय रक्षक विष्णु तीन पाँव चले, इस प्रकार धर्म्मों को धारण करते हुए।'

कहा जाता है कि यहाँ विष्णु सूर्य्य को कहा गया है, प्रातःकाल मध्याह्न और सायंकाल उनके तीनों पद हैं। यदि यह अर्थ मान लिया जाय तो उनके पाँव की धूलि से विश्व के भर जाने और उनके धर्म्मों के धारण करने का क्या तात्पर्य्य होगा ?

यद्देवा अदः सलिले, सुसंरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव, तीव्रो रेणुरपायत ॥
(ऋक् १०, ७२, ६, ७)

'हे देवगण, जब आप लोग एक दूसरे से मिले हुए सलिल में खड़े थे, तो आप लोगों से गहरी धूल उठी, जैसे आप लोग नाच रहे हों।'

सलिल जल को कहते हैं। जब जल के शुद्ध अविभक्त रूप को ओर, उसके नदी, समुद्र, झील, कूप, बूंद आदि भेदों की ओर ध्यान न देते हुए, संकेत करना हो तो इस शब्द का व्यवहार किया जाता है। इस मंत्र में किस प्राकृतिक घटना की ओर संकेत हो सकता है और देव शब्द किन प्राकृतिक शक्तियों के लिए व्यवहृत हो सकता है?

इन्द्र बादल के गरजने और बिजली गिरने के प्रतीक माने जाते हैं। यों कहना चाहिए कि पाश्चात्य विद्वानों के मत से आर्य्य लोग गरजते बादल और गिर कर प्राणनाशक बिजली को इन्द्र नाम से पूजते थे। बादल फाड़कर वृष्टि हुई, अन्धकार फाड़कर प्रकाश हुआ, तो इसको इन्द्र के हाथों वृत्रासुर का बध कह दिया गया। वृत्र का अर्थ भी है, आवरण करने वाला, ढँकनेवाला और इन्द्र का आयुध वज्र माना ही जाता है। पर क्या बिजली-बादल के लिए ये शब्द कहे जा सकते हैं?

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम् ।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ।।
(ऋक् १०, ८९, १०)

'इन्द्र आकाश और पृथिवी के स्वामी हैं, इन्द्र चलो और पर्वतों (अर्थात् चलों और अचलों) के स्वामी है, इन्द्र वृद्धों और धीमानों के स्वामी है, क्षेम और योग के लिए इन्द्र ही हव्य (पुकारने योग्य) योग्य हैं।

'आपः' शब्द के कई अर्थ हैं। उनमें सबसे प्रचलित अर्थ जल है। पर क्या इस मंत्र को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह जल से प्रार्थना के रूप में है?

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि ।
यद्वाहमभिदुद्रोह य द्वा शेप उतानृतम् ।
(ऋक् १, २३, २२)

'हे आप, मैंने जो पाप किये हों, जो किसी से द्रोह किया हो, जो किसी को शाप दिया हो (अपशब्द कहे हों) या झूठ बोला हो, उस सबको आप दूर बहा ले जाइये।'

अग्नि का सीधा अर्थ आग है और वेद में अग्निपरक मंत्रों को देखकर यह विचार मन में उठ सकता है कि आर्य्य लोग अग्निपूजक थे। वैदिक उपासना में यज्ञ-याग में आग का काम पड़ता भी है। पर थोड़ा सा पारायण करने से ही पता चल जाता है कि आग के साथ-साथ अग्नि शब्द के दूसरे अर्थ भी हैं। ऋग्वेद का पहिला ही मंत्र कहता है :

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारम् रत्नधातमम् ॥

'मैं उन देव अग्नि की स्तुति करता हूँ जो यज्ञ के पुरोहित, ऋत्विक् और होता है तथा रत्नधारण करनेवालों में श्रेष्ठ हैं।' पुरोहित, होता और ऋत्विक् वे वेदज्ञ पुरुष होते है जो यजमान को यज्ञ करने में सहायता देते हैं। रत्न धारण करनेवालों में श्रेष्ठ कहने का तात्पर्य हुआ उत्तम फल देनेवाले। इस मंत्र के अनुसार अग्नि ही यज्ञ कराने वाले और वही यज्ञ का फल देने वाले हैं। इतना ही नही, अग्नि को 'गृहपतिश्च नो दमे' (२, १, २) 'हमारी यज्ञशाला में गृहपति (यजमान)' भी कहा गया है। अग्नि का रुद्र से तादात्म्य बताया गया है। परन्तु रुद्र तो देवों के प्रभव और उद्भव कहे गये हैं। अतः अग्नि भी देवों का निमित्त और उपादान कारण है। इसी प्रकार अन्यत्र (३, १, १२ में) अग्नि को जनिता, नृतम और अपां गर्भ कहा गया है। इन शब्दों का अर्थ है, सृष्टिकर्त्ता या जनक, मनुष्यों में श्रेष्ठ और जलों का गर्भ। यह अन्तिम विशेषण कई बार आया है। यह कहना अनावश्यक है कि अग्नि के ये स्वरूप प्राकृत आग से बहुत दूर है।

मैं समझता हूँ कि इतने उदाहरण पर्य्याप्त हैं। वेदों में अग्नि, वायु, उषा, सूर्य्य जैसे शब्द सैकड़ों बार आये हैं। कहीं-कहीं इनका व्यवहार उस प्रचलित अर्थ में हुआ है जो सर्व साधारण की बोलचाल मे सुनने समझने में आता है। जब यह प्रार्थना की जाती है :

शन्नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये,
शं योरभिस्रवन्तु नः
(१०, ९, ८)

'आकाश से जल बरसे, वह हमारे पीने के लिए हो, उससे हमारा कल्याण हो और रोग, दुर्भिक्ष आदि को हमसे दूर रखे' तो यहां सर्वसुगम बात कही जा रही है। परन्तु इन्ही शब्दों के माध्यम से दूसरे अर्थ व्यक्त किये जाते हैं। और यह तो स्पष्ट है कि आग, पानी, हवा आदि की उपासना तो नहीं ही होती थी।

अर्वाचीन काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने देवों के विषय में हमारे सामने एक मत रखा है। उनका कथन है कि इन्द्र, रुद्र, विष्णु आदि परमात्मा के ही नाम हैं, किन्हीं पृथक व्यक्तियों के नहीं। एक दृष्टि से यह सर्वथा ठीक है। वह एक है, विद्वान उसे अनेक नामों से पुकारते हैं—ऐसा स्वयं वेद कहता है। पुरुष सूक्त बतलाता है :

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

सब सिर, हाथ, पांव उसी के सिर, हाथ-पाव हैं, वही एक होता हुआ भी अनेकवत् प्रतीत होता है। अतः सब नाम भी उसी के नाम हैं। जलती आग से निकली चिंगारी भी अग्नि है, विशाल बन को भस्म करने वाली आग भी अग्नि है, विशाल समुद्र के गर्भ को मथ डालनेवाली आग भी अग्नि है। इसी प्रकार जहां जो भी शक्ति है सब ईश्वर की ही है, वही नाना रूपों में नाना काम कर रही है। ऐसा मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु तत्व-दृष्टया एक होते हुए भी चूल्हे की आग, जाठराग्नि, दावाग्नि, बड़वानल में भेद है; उसी प्रकार ईश्वर से अभिन्न होते हुए भी अभिव्यक्ति-भेद से विभिन्न देव हो सकते हैं। देखना यह है कि वेद से इस बात का समर्थन मिलता है या नही।

देवों की संख्या ३३ बतायी जाती है: त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः। इनमें ८ वसु, १२ आदित्य, ११ रुद्र, १ इन्द्र और १ प्रजापति हैं। शतपथ ब्राह्मण में ३३ की संख्या दूसरे ही प्रकार से पूरी की गयी है। परन्तु साधारणतः वस्वादि

सूची ही मानी जाती है। कई स्थलों में दूसरे प्रकार अर्थ करना ठीक नहीं लगता। यथा,

ये त्रिंशति त्रयस्परो, देवासो बर्हिरासदन्
विदन्नह द्वितासनन् ।
(८, २८, १)

'जो तैंतीस देवगण कुश के बने आसनों पर बैठे हैं हमको जानें और धन दें।'

स्वामी दयानन्द जी के अनुसार देव शब्द उपस्थित विद्वानों के लिए भी प्रयुक्त होता है परन्तु विद्वानों से धन माँगना तो अच्छा नहीं लगता। फिर इसे देखिए :

न बोऽस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः।
विश्वे सतो महान्त इत्।
(८, ३०, १)

'हे देवगण, आप में कोई बच्चा या अल्पवयस्क नहीं है, आप सब समान रूप से बड़े हैं।'

हम पहिले एक मंत्र उद्धृत कर आये हैं जिसमें कहा गया था कि जब देवगण सलिल में खड़े थे तो उनके पांव से धूलि इस प्रकार उड़ रही थी, जैसे वे नाच रहे हों। ऐसे मंत्रों को ईश्वरपरक या उपस्थित विद्वानों से सम्बद्ध मानना कठिन होता है। ऋग्वेद के दशम मंडल के पुरुषसूक्त में उस यज्ञ का चर्चा है जो सृष्टि के आदि काल में देवगण के द्वारा सम्पादित हुआ। वहां भी देव शब्द को विद्वान् का पर्य्याय मानना सुकर नहीं प्रतीत होता।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि विद्वानों के सम्बन्ध में ३३ की संख्या का क्या महत्त्व है? इस मंत्र को देखिए:

---

१ वसु—आप, ध्रुव, सोम, धराधव, अग्नि, वायु, प्रत्यूष, प्रभास, १२ आदित्य—अर्य्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, अंश, मित्रः, विवस्वान्, विष्णु ११ रुद्र—अजएकपात्, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, महेश्वर, अपराजित, शासक, शम्भु, हरण, ईश्वर, वृषाकपि।

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः ।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥ १०, ६३, ८।

'जो विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न देवगण स्थावर जंगम विश्व के ज्ञाता और स्वामी हैं वह हमको अतीत और अनागत पापों से दूर करें और हमारा कल्याण करें।'

इसी सूक्त के चौथे मंत्र में देवों के लिए अनिमिषन्तः (जिनकी पलक नहीं गिरती, सदा जागरूक) ज्योतिरथाः (जिनके रथ ज्योतिर्मय हैं), अनागसः (निष्पाप), अमृतत्वाशना (जिन्होंने अमृतत्व का पान किया है), ऐसे विशेषण आये हैं। यों तो सभी विशेषण ईश्वर के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, परन्तु उसके लिए बहुवचन का प्रयोग ठीक नहीं प्रतीत होता और किसी सभा में उपस्थित विद्वानो के लिए ऊपर दिये हुए विशेषण उपयुक्त नहीं हो सकते। इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ वेद में देव शब्द ईश्वर और विद्वान् के लिए व्यवहृत हुआ है वहाँ किन्हीं विशेष प्रकार के शक्तिशाली और लोकहितकारी सत्वों के लिए भी आया है। उनसे भाँति-भाँति की प्रार्थनाएँ की जाती हैं और योग-क्षेम की आशा की जाती है।

यहीं दो शब्द सोम के सम्बन्ध मे भी कह देना आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वह विजया (भंग) की भाँति कोई मादक रस था जो किसी विशेष प्रकार के पौधे से पीसकर निकाला जाता था। किसी और जानकारी के अभाव में पढ़ा लिखा भारतीय भी यही मानने लगा है। सोम पौधे से पीस कर निकाला जाता था, इसमे सन्देह नही। उससे नशा भी होता था, इसमें भी सन्देह नही है। परन्तु वह सामान्य नशे के लिए नहीं पिया जाता था। आर्य्य सुरा से परिचित थे, शराब निकालना जानते थे। यदि उनको मादक वस्तु की ही चाह होती तो सुरा थी ही। पी सकते थे, पीनेवाले पीते ही थे। परन्तु सोम को जो विशेष स्थान दिया गया था, वह केवल नशे के लिए नहीं था। सोम बेचने वालों को कई सुविधाएँ प्राप्त थीं, वह युद्धकाल में भी बेरोक टोक देश के एक कोने से दूसरे कोने तक आ जा सकते थे। अन्य मादक वस्तुओं की भाँति न तो सोम गली-गली बिकता था, न जब चाहें तब पीस कर निकाला जाता था। एक तो वह मूजवान पर्वत से आता था जो कहीं अफगानिस्तान के पास है। यों ही

महंगा होता होगा। दूसरे, यज्ञ के सिवाय और कभी तैयार नहीं किया जाता था। यज्ञ में भाग लेने वालों को ही उसको पीने का अवसर मिल सकता था। ब्राह्मणों का कहना था :

सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाम् राजा ।

'सोम हम ब्राह्‌मणों का राजा है।' ऐसे शब्द निर्लज्जता के साथ किसी मादक वस्तु के लिए नहीं कहे जा सकते थे।

वेदों में सोम की बहुत महिमा गायी गयी है। एक ओर तो सोम औषधि मात्र का प्रतीक है, दूसरी ओर वह उस रस, उस पोषक शक्ति का नाम है जो सभी वनस्पतियों में संचार करता है और उनके द्वारा सभी जीवों का भरण-पोषण करता है। सोम प्राण की भी संज्ञा है और शारीरिक तथा बौद्धिक क्रियाओं और चेष्टाओं का प्रेरक है। सोम के सम्बन्ध में यह मंत्र विशेष रूप से द्रष्टव्य है :

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्नतस्याश्नाति पार्थिवः ।।
(१०, ८५, ३)

यहाँ स्पष्ट शब्दों में दो प्रकार के सोम का उल्लेख है। एक तो वह जो साधारण मनुष्य पौधे को पीसकर पीता है, दूसरा वह जिसका रसास्वाद ब्राह्मण करता है।

मंत्र का अर्थ है :

'सोम को पीने की इच्छा से (लोग) पौधे को पीसते हैं, परन्तु जिस सोम को ब्राह्मण जानते हैं उसको पार्थिव, संसारी, मनुष्य नहीं चखता।'

सोमपान का यही रहस्य है। सोम के रस को पान करने से एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती थी जो समाधि के नीचे स्तरों के अनुभव से मिलती-जुलती थी। जो साधक सोम का सेवन करता था उसको चित्त में एकाग्रता लाने में सहायता मिलती थी। योग दर्शन में पतंजलि ने कहा है "जन्मौषधमंत्रतपः

समाधि-जन्याः सिद्धयः।' सिद्धियाँ जन्म, औषध, मंत्र, तप और समाधि से उत्पन्न होती हैं।

आज से कुछ दिन पहले सोम के इस गुण को समझना कठिन था। परन्तु आज पश्चिम, विशेषतः अमेरिका में ऐसे कई प्रयोग हो रहे हैं जिनसे यह बातें कुछ समझ में आने लगी हैं। कई ऐसे पौधे हैं जिनके रस में कुछ विलक्षण गुण पाये गये हैं। इनमें मैस्केलीन पर बहुत प्रयोग हुआ है। पीने के बाद चित्त में विशेष प्रकार के विस्तार का अनुभव होने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे दिक् और काल नीचे छूटते हैं, एक क्षण के लिए ऐसा लगता है जैसे विश्व के रहस्य का साक्षात्कार हो रहा है।* अन्तःकरण में अद्भुत् शान्ति छा जाती है। और सबसे बड़ी बात यह है कि अन्य मादक वस्तुओं की भाँति लत नहीं पड़ती। जब उस अनुभूति की इच्छा हो सेवन किया जा सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं प्रतीत होता कि सोम लता कोई ऐसी ही औषधि थी जिसके रस में यह गुण था। वह साधना में सहायक होती थी, इसलिए उसे पिया जाता था, भंग और मदिरा की भाँति नशे के लिए नहीं। उसके प्रभाव से साधक को सिद्धि प्राप्त होती थी। उस सिद्धि को 'वाज' कहते थे। यह सोम का चरम स्वरूप था। साधारण मनुष्य ऐसी ऊँची अनुभूति का पात्र नहीं होता, इसीलिए सोम को ब्राह्मणों का, ब्रह्मजिज्ञासुओं का, राजा कहा गया था। यह भ्रान्त विचार है कि आर्य्य सोम के नशे के शौक़ीन थे और उन्होंने इस मादक द्रव्य को देवपद दे दिया था।

सोम की निश्चय ही गणना देवों में है। वैदिक प्रणाली के अनुसार देव-सूची में ऐसा नाम आया है जो एक विशेष प्रकार के पेय द्रव्य से सम्बन्धित है। वस्तुतः न तो नशे का नाम सोम देव है, न नशा करनेवाले पदार्थ का। सोम के सम्बन्ध में कहा गया है :

> त्वं नः सोम विश्वतो वयोधास्त्वं स्वर्विदा विशान् चक्षाः।
> त्वं इन्द्र ऊतिभिः सजोषाः पाहि पश्चादुत वा पुरस्तात् ॥

---

*इसको मोमेन्ट आफ़ ट्रूथ—सत्य का क्षण कहा गया है।

'हे सोम, तुम हमारे पूर्ण रूप से अन्नदाता हो, स्वर्ग प्राप्त कराने वाले हो और मनुष्यों को देखने वाले हो। मनुष्यों के समस्त गुण-दोषों तथा पुण्य-पाप के साक्षी हो। हे इन्दु आप स्तुतियों से प्रसन्न होते हैं। हमारी आगे पीछे सब ओर रक्षा कीजिए।'

बहुत से मंत्रों में सोम को इन्दु नाम से संबोधित किया गया है। इन्दु चन्द्रमा का भी नाम है।

अब तक मैंने देवों के सम्बन्ध के कुछ ऐसे विचारों का चर्चा किया है जो मेरी राय में भ्रामक हैं। इनमें वह मत जिसको पाश्चात्य विद्वानों ने अंगीगार किया है बहुत ही ग़लत है। उन लोगों ने पहिले से कुछ सिद्धान्त स्थिर कर लिए और फिर वेद को बलात् उसी साँचे में कसने का प्रयत्न किया। यह प्रयास निष्फल है।स्वामी दयानन्द जी का मत अंशतः यथार्थ होते हुए भी सर्वत्र लागू नहीं होता। पर वह भारतीय परम्परा के प्रतिकूल नहीं है। मैंने अब तक यह बताने का यत्न नहीं किया है कि वेद के अनुसार देव किसे कहते हैं। स्वमत की प्रतिष्ठा न करके केवल परमत दूषण किया है। अपना मत आगे निवेदन करूँगा। परन्तु इतना तो कह सकता हूँ कि एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी बहुदेव-वाद, अर्थात् बहुत से देवों के अस्तित्व को स्वीकार करने में, कोई अड़चन नहीं पड़ती।

———

तीसरा अध्याय

देव और देवता

देवों के स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णयात्मक विचार होने के पहिले देवता शब्द के सबंध में विमर्श बहुत आवश्यक है। हिन्दी और भारत की दूसरी लोकभाषाओं में यह शब्द देव का समानार्थक हो गया है, यहाँ तक कि इसका प्रचार देव से अधिक देख पड़ता है। देवी इसका स्त्रीलिंग रूप है।

संस्कृत में ऐसा नहीं है। वहाँ देवता स्वयं स्त्रीलिंगात्मक शब्द है। ऋग्वेद के प्रत्येक मंत्र के साथ इस बात का निर्देश है कि इस मन्त्र का अमुक छंद है, इसका अमुक देवता से सम्बन्ध है, अमुक ऋषि द्वारा प्रकट हुआ है, और इसका अमुक विनियोग है, अर्थात् अमुक अवसर पर इससे काम लिया जाता है। देवता शब्द तो स्त्रीलिंग का है पर जो नाम आते हैं वह प्रायः पुल्लिगात्मक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हिन्दी में यों कहा जायगा : अमुक मंत्र की देवता इन्द्र है, अमुक की विष्णु है, अमुक की रुद्र है, इत्यादि। विलक्षण बात है। इसका कोई विशेष ही कारण होगा कि पुरुष नामो के साथ स्त्रीवाचक उपाधि जोड़ी जाय। प्राचीन काल के ऋषिगण और उनके परवर्ती ऋषि लोग इतनी सस्कृत तो जानते रहे ही होंगे, उनके भाष्यकारों को भी सस्कृत व्याकरण का ज्ञान था ही, फिर ऐसा, प्रयोग ही क्यों किया गया? यह महत्वपूर्ण शंका थी। परन्तु किसी कारण से, प्राच्य या पाश्चात्य, वेद के अर्वाचीन, विद्यार्थियो का ध्यान इधर नहीं गया। यदि मंत्र के रचयिता का यह बतलाना उद्देश्य होता कि अमुक-अमुक मंत्र का अमुक-अमुक देव से सम्बन्ध है तो सीधे देव शब्द का प्रयोग होता, देवता क्यों लिखते?

जो लोग ऐसा कहते हैं कि वेद में केवल ईश्वर का चर्चा है उनको भी इस सम्बन्ध में कुछ विचार करना चाहिए। उनके मत में वेद में रूढ़ि शब्द नहीं

वरन् केवल यौगिक शब्द हैं। यदि कहीं विष्णु शब्द आया तो वह किसी मनुष्य या मनुष्येतर व्यक्ति का नाम नहीं है। जो व्याप्नोति, सब जगह व्यापक है, वह विष्णु है। यह लक्षण ईश्वर का है, अतः विष्णु शब्द ईश्वर के लिए आया है। इस बात को मान लेने पर इन्द्र, अग्नि, मरुत, सूर्य, सभी नाम ईश्वर के हो जायंगे, सभी मंत्रों का सम्बन्ध ईश्वर से होगा। जब सभी मंत्र ईश्वर देवत हैं तब फिर पृथक् नामों की आवश्यकता क्या है? एक बार इतना कह देने से काम चल जाता कि यह सब मंत्र ईश्वरपरक हैं। यह भी विचारणीय है कि पृथक् सूक्तों और मंत्रों में पृथक् नाम क्यों आये हैं, एक नाम पर्य्याप्त होता। कोई कारण तो होना चाहिए कि कहीं यह कहा गया कि इस सूक्त की देवता इन्द्र है, अन्यत्र इसी प्रकार अग्नि,रुद्र आदि नामों से ईश्वर की ओर संकेत किया गया।

वस्तुतः वैदिक वाङ्मय में देवता का अर्थ देव से भिन्न है। इस भेद को समझने के लिए वैदिक दर्शन का थोड़ा सा ज्ञान आवश्यक है। वेद दर्शन शास्त्र की पुस्तक नहीं है, उसमें तर्क नहीं है, शास्त्रार्थ नहीं है, मतों का खंडन-मंडन नही है। परन्तु एक विचारधारा है जो समूचे वेद में अनुस्यूत है, वही समूची वैदिक धारणाओं, मान्यताओं और आदेशों का आधार है।

यह जगत् अनादि और अनन्त है। ऐसा कोई काल नहीं था जब यह नहीं था, ऐसा कोई काल नहीं होगा जब यह न होगा। जिसका आदि न हो उसके प्रारम्भ की कल्पना कैसे की जाय, परन्तु मानव बुद्धि की दुर्बलता कहीं न कहीं से आरम्भ विन्दु मानकर आगे बढ़ने को विवश करती है। जगत् की सत्ता तो बराबर रहती है, परन्तु उसकी अवस्था बदलती रहती है। एक अवस्था ऐसी आती है जब सारा विश्व सिमिट कर अपने मूल में लय हो जाता है। इस अवस्था को सकोच या प्रतिसंचर कहते हैं। सभी भौतिक पदार्थ अपने सूक्ष्मतम रूप को धारण कर लेते हैं। यहाँ विस्तार के साथ इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में रूपरेखा मात्र दे रहा हूँ। इतना ही कहना पर्य्याप्त है कि उस अवस्था में दिन, रात, क्षिति, तेज, आप, वायु, आकाश का कोई भेद नहीं रहता, कोई इन्द्रिय नहीं रहती, मन नहीं रहता, न देवगण रहते हैं, सब कुछ अव्यक्त, अविभक्त। नासदीय सूक्त (१०, १२) के अनुसार

"नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्" -उस अवस्था में न यह कह सकते हैं कि असत् था न सत् था। सब कुछ जिस मूल में विलीन हो गया था वह वेदान्तसम्मत शुद्ध ब्रह्म नहीं वरन् मायाशबल (माया से ढंका) ब्रह्म, परमात्मा था। वह चेतन है, पराशक्तियुक्त है। शक्ति और शक्तिमान् एक दूसरे से अभिन्न है। नासदीय सूक्त कहता है कि :

आनीदवातं स्वधया तदेकम्

'वह एक अपनी स्वधा के साथ बिना वायु के साँस लेता था।'

पराशक्ति का ही नाम स्वधा है। 'साँस लेता था' कहने का तात्पर्य यह है कि वह चेतन क्रियोन्मुख परमात्मा था, निश्चेष्ट, सच्चित् मात्र, शुद्ध ब्रह्म नहीं।

यह अवस्था सदा नहीं रह सकती। जो जगत् परमात्मतत्व में विलीन हुआ था, उसमें जीव भी थे। उन असंख्य जीवों के कर्म्मजन्य संस्कार भी थे। इन संस्कारों के फल मिलते थे, क्योंकि कर्म्म सिद्धान्त अटल है। जीवों को फिर सुख-दुख भोगना था, इसके लिए नया संसार चाहिए था। प्रतिदिन करोड़ों जीव सोते हैं, उनकी दैहिक और मानस चेष्टाएँ बंद हो जाती हैं। परन्तु कुछ घंटों के बाद संस्कार जागते हैं, सुषुप्ति का अन्त होता है, सुख दुःखात्मक संसार की फिर प्रतीति होने लगती है। इसी प्रकार संकोच की महा सुषुप्ति के बाद जीवों के जागने की बारी आती है। इस नयी अवस्था को विस्तार या संचर कहते हैं। इसको यों कहते हैं कि परमात्मा में क्षोभ, कम्पन, गति, उत्पन्न होती है, जैसे सोनेवाला अँगड़ाई लेता हो। इस क्षुब्ध परमात्मा को हिरण्यगर्भ कहते हैं। जिस प्रकार कारीगर के चित्त से भावी कृति की रूपरेखा, चित्र, स्फुरित होता है, उसी प्रकार हिरण्यगर्भ में भावी जगत् विचार के रूप में स्फुरित होता है। नासदीय सूक्त के शब्दों में: **"कामस्तदग्रे समवर्तत"**–उस परमात्मा में पहिले काम उत्पन्न हुआ। यही काम वह पहिला क्षोभ है जिसे हिरण्यगर्भ कहा गया है। एक दूसरे सूक्त में यह शब्द आये हैं : **"हिरण्यगर्भः समवर्ततान्ने**–पहले हिरण्यगर्भ था। अस्तु, इस काम के सम्बन्ध में कहा गया है: **"सोऽकामयत**

"एकोऽहं बहुस्याम"—उसने कामना की, मैं एक हूँ, बहु, अनेक, हो जाऊँ। तब भावी जगत् का स्वरूप उसके सामने आता है।

स तूष्णीं मनसाध्यायत्तस्य यन्मनस्यासीत् तद्बृहत् समभवत्।

(ताण्ड्य ब्राह्मण ७, ६, १)

'उसने चुपचाप मन से सोचा। जो उसके मन में था वह बृहत्, बड़ा, विस्तृत होता गया।'

इसके आगे सृष्टिक्रम के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। लोगों के संस्कारों के अनुसार नया जगत् बना। यथाऽपूर्वमकल्पयत्—अपूर्व के अनुसार बनाया। स्थूल सूक्ष्म के भेद से जगत् के कई स्तर हैं। तदनुसार आदि देव परमात्मा ने भी अपने को अग्नि, वायु और आदित्य तीन मुख्य रूपों में अभिव्यक्त किया। ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि परमात्मा तीन देवों में विभक्त हो गया, उसके तीन टुकड़े हो गये। ऐसा नहीं है। अग्नि आदि तीनों देव सम्पूर्ण परमात्मा हैं। जैसा कि कहा है:

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

'पूर्ण में से पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही बचता है।'

जो अग्नि है, वही वायु है, वही आदित्य है, वही परमात्मा है। जो आधिभौतिक स्तर पर अग्नि है, वही आधिदैविक स्तर पर वायु है, वही आध्यात्मिक स्तर पर आदित्य है। सम्पूर्ण विश्व में जो कुछ भौतिक, मूर्तिमान, है उसमें परमात्मा अग्निरूप से व्याप्त है, जहाँ गति है वहाँ वह वायु रूप से वर्त्तमान है। जहाँ समन्वय, सन्तुलन, चेतना है वहाँ आदित्य रूप से स्थित है। सूर्य्य सब से ऊँचा स्तर है इसीलिए कहा है:

सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च

'आदित्य गतिशील और स्थितिशील दोनों का आत्मा है।'

ज्यों-ज्यों जगत् का विस्तार और विकास बढ़ा त्यो-त्यों आद्याशक्ति, परमात्मा की परा शक्ति, का भी विस्तार और विकास होना अनिवार्य्य था। वह एक थी परन्तु परिस्थिति के अनुसार उसकी अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हुई। जीवों के सुख दुःख सम्पादन के लिए, उनकी वासनाओं की तृप्ति और आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए, अनेक प्रकार के काम करने होते हैं। तदनुरूप ही शक्ति अपना रूप व्यक्त करती है। हम इनमें से कुछ रूपों से परिचित हैं। ताप, विद्युत् वेग, मांसपेशियों का बल, भूख, प्यास, नाड़ितन्तुओं को परिचालन करनेवाली स्फूर्ति, प्रतिभा, योगियों द्वारा उत्थापित कुण्डलिनी, यह सब शक्ति के ही तो भेद हैं। विभिन्न शास्त्र इनका अध्ययन करते हैं।

शक्ति के इन भेदों को देवता कहते हैं। इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि शक्ति के भेद अनन्त हैं, अर्थात् देवता असंख्य हैं। शक्ति का पर्याय होने से देवता शब्द स्त्रीवाचक है। देवताओं की कोई संख्या नहीं है, अतः उनकी कोई सूची नही दी जा सकती। यजुर्वेद के इस मंत्र में कुछ देवताएँ इस प्रकार गिनायी गयी हैं :

'**अग्नि देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।**' इन नामों की संख्या बारह है इससे यह न समझना चाहिए कि देवता कुल बारह हैं। मरुत् ४९ है, रुद्रों को **असंख्याता सहस्त्राणि**-असंख्य सहस्र बताया गया है और **विश्वेदेवाः** सब देवों की कोई निर्दिष्ट संख्या नही कही गयी है।

स्त्रीवाचक देवता शब्द के साथ पुरुषवाचक इन्द्रादि नामों को जोड़ना विशेष वैदिक परम्परा है। इन्द्र का अर्थ ऐन्द्री शक्ति, विष्णु का वैष्णवी शक्ति, रुद्र का रौद्री शक्ति है। ऐन्द्री आदि शक्तियों का ठीक-ठीक स्वरूप क्या है, उनसे क्या-क्या काम होते हैं, यह अध्ययन और अनुसन्धान का विषय है। परन्तु इन शक्तियों का यथार्थ रूप कुछ भी हो, जब किसी मंत्र के साथ इन्द्रादि

का नाम सम्बद्ध होता है तो वह सम्बन्ध इन्द्रादि नाम के किन्हीं विशेष देवों से नहीं परन्तु तत्तत् शक्ति से सूचित होता है। 'मंत्र की देवता' कहने का यही अभिप्राय है।

मंत्र के साथ देवता का सम्बन्ध जोड़ने का विशेष कारण है। मंत्र देखने में तो वाक्य, शब्दों का समूह, होता है जिसका अर्थ सामान्यतः व्याकरण और कोष की सहायता से निकाला जा सकता है। परन्तु मंत्र इतना ही नहीं है। वह शब्दों का ही नही प्रत्युत ध्वनियों का समूह माना जाता है। ठीक-ठीक उच्चारण करने से मंत्र के अक्षरों से जो संयुक्त ध्वनि निकलती है उसी मे मंत्र का मंत्रत्व है। अर्थ तो दूसरे शब्दों से व्यक्त किया जा सकता है परन्तु दूसरे शब्दों मे वह ध्वनि नहीं मिल सकती। इसीलिए मंत्र का अनुवाद फलदायक नहीं माना जाता, अर्थबोधक भले ही हो।

ध्वनि वह प्रतिक्रिया है जो कम्पन से हमारे मस्तिष्क में होती है। कम्पन-भेद से ध्वनिभेद होता है। संगीत के स्वर तो हवा के कम्पन का परिणाम हैं, परन्तु कम्पन हवा तक ही सीमित नही है। जहाँ गति है, वहाँ कम्पन है: गति ही कम्पन है। प्रत्येक गति, प्रत्येक कम्पन, प्रत्येक क्षोभ, हमारे अन्तः-करण में अपने को नाद, ध्वनि, शब्द रूप से व्यक्त करता है। जगत् के आरम्भ में परमात्मा-पराशक्ति आत्मक युगलतत्व में जो पहिला क्षोभ हुआ उसका संसूचक प्रणव कहलाता है। शक्ति के प्रत्येक भेद के साथ विशेष प्रकार का स्पन्दन सम्बद्ध है। जब वैसी गति, वैसा कम्पन हो, वैसा स्पन्दन हो, तो शक्ति का वह भेद, वह प्रकार, प्रकट होगा। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक देवता के साथ विशेष प्रकार का स्पन्दन सम्बद्ध है। ऐसा माना जाता है कि जब कोई मंत्र ठीक विधि से पढ़ा जाता है तो उससे पर्य्यावरण में जो कम्पन होता है उसका द्विधा प्रभाव होता है। एक ओर तो वह पढ़नेवाले के नाड़िजाल और मस्तिष्क को विशेष रूप से प्रताड़ित करता है, दूसरी ओर शक्ति के सर्वव्यापी विशाल सागर को क्षुब्ध करके तरंगित करता है। आग सर्वत्र है। पर जहाँ रगड़ने से क्षोभ होता है वहाँ वह प्रकट हो जाती है, इसी प्रकार मंत्र पाठ के द्वारा विशेष प्रकार का क्षोभ उत्पन्न करने से विशेष प्रकार की शक्ति प्रकट हो जाती है। इसी से कहते

हैं कि मंत्र-विशेष से देवता विशेष उद्‌बुद्ध होती है, जाग जाती है। मंत्र के साथ देवता के संकेत का यही कारण है।

यदि मंत्र-पाठ में त्रुटि हुई तो ऐसा हो सकता है कि कुछ भी प्रभाव न हो या उलटा प्रभाव पड़ जाय। इसीलिए कहा है **'मंत्रो हीनः स्वरतोवर्णतोवा'** वाग्वज्र के समान यजमान को मार सकता है अर्थात् मंत्र के स्वर या वर्ण में भूल होने से मत्र वज्र के समान उलटे यजमान का ही विनाश कर सकता है।

अस्तु, अमुक अमुक मंत्र की देवता रुद्र है कहने का तात्पर्य यह हुआ कि उस मंत्र का यथोपदेश पाठ करने और उचित ढंग से विनियोग करने से यजमान के लिए रौद्री शक्ति का उद्‌बोध होगा, वह उस काम को कर सकेगा जो रौद्री शक्ति के द्वारा किया जा सकता है। वेदों में मंत्र के नाम से जितने वाक्य दिये हुए है वे सब मत्र हैं या नहीं, यह पृथक् प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर परीक्षा साध्य है और परीक्षा तपः साध्य है। शास्त्रोक्त विधि से जप करने से ही विदित हो सकेगा कि मंत्रविशेष देवताविशेष को उद्‌बुद्ध करता है या नहीं। जो मंत्र इस कसौटी पर नहीं उतरते वे निर्वीर्य्य हैं, निष्फल हैं, वस्तुतः मंत्र नहीं हैं।

इस सब का निष्कर्ष यह है कि वेदों में सर्वत्र नहीं तो बहुत से स्थलों पर देव शब्द देवतावाचक है अर्थात् देव कहने से किन्हीं विशेष शक्तिसम्पन्न मनुष्येतर महान् व्यक्तियों से अभिप्राय नहीं है: ऐसे स्थलों पर देवताओं, परा शक्ति के विशेष भेदों की ओर संकेत है। अग्नि, वायु, आदित्य, इन्द्र, आदि व्यक्तियों के नहीं, शक्तियों के नाम हैं।

जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ, शक्ति के असंख्य रूप हैं, देवताओं की गणना नहीं हो सकती। इनमें से कुछ का उद्‌बोध तो अपने काम के लिए हम भौतिक साधनों से कर लेते हैं। विज्ञानविद् अपनी प्रयोग शाला में ऐसा करता है। चिकित्सक, इंजिनियर, शस्त्रनिर्माता, अपने अपने व्यवसाय में कुछ देवताओं से खेलते हैं, आज विज्ञान ध्वनि से काम लेकर कई रचनात्मक और ध्वंसात्मक शक्तियों का उपयोग करना सीख रहा है। इन कामों को मनुष्य अपनी

बुद्धि से कर लेता है। वेद तो उन शक्तियों, देवताओं, को जगाने की विधि बतलाता है जिनके उद्बोधन का, जिनसे काम लेने का, मार्ग मनुष्य अपने से नहीं निकाल सकता।

ऐसा नहीं मानना चाहिए कि देवता की मीमांसा करने में हम पाश्चात्य विद्वानों के मत का समर्थन कर रहे हैं। जिन शक्तियों तक बर्बर मनुष्य की बुद्धि पहुँच सकती है वे वैदिक देवताओं से बहुत दूर और बहुत नीचे हैं।

चौथा अध्याय

देव शब्द का मुख्य और वास्तविक अर्थ-साध्य देव

यदि वेद में कहीं देव शब्द का व्यवहार परमात्मा के लिए हुआ है तो उसको भ्रान्त या अयथार्थ नहीं कह सकते। इसी प्रकार जहाँ जहाँ वह देवता-वाचक है वहाँ-वहाँ भी प्रयोग को ठीक ही कहना होगा। बहुत जगहों में देव शब्द बहुबचनान्त आया है और जिस सन्दर्भ में व्यवहृत हुआ है वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि किन्हीं विशेष व्यक्तियों की ओर सकेत है। बहुबचनान्त प्रयोग भी कभी-कभी गौणार्थ मे आया है, यथा :

नैनं देवा प्राप्नुवन् पूर्वमर्षत्

'उसको पूर्वकाल में देव गण पकड़ नही सके।' यहाँ प्रसंग बताता है कि देव शब्द इन्द्रियों के लिए आया है। इसी प्रकार का गौण अर्थ देवासुर संग्राम के चर्चा मे भी व्यक्त किया गया है। देवो और असुरों का युद्ध चलता ही रहता है। कभी देव और कभी असुर जीतते है। कभी-कभी देव बुरी तरह पराजित होते है, तब परमात्मा की शरण में जाते हैं। फिर उनका उद्धार होता है।

सम्भव है देवासुर संग्राम की कथाओं में किन्हीं ऐसे वास्तविक युद्धों की स्मृतियाँ छिपी हों जिनमें कभी आर्य्यगण को सम्मिलित होना पड़ा हो। परन्तु जो कथाएँ आज हमारे सामने हैं उनसे तो यही प्रतीत होता है कि यह रूपक हैं। भौतिक लड़ाई के रूप में मानस संघर्षों का चित्रण है, मनुष्य की नैतिक

अनैतिक प्रवृत्तियाँ, उसकी उदार और संकुचित भावनाएँ, उसकी धार्मिक अधार्म्मिक चेष्टायें ही देव और असुर हैं। कभी-कभी अच्छी प्रवृत्तियाँ प्रबल तो हो जाती हैं परन्तु बाद में मनुष्य के चित्त में अभिमान घर कर लेता है। यदि यह अभिमान गलित न हो तो उसका पतन होता है। कठोपनिषद् में दिख-लाया है कि अपनी विजय पर गर्व करने वाले देवों के अभिमान को उमा हैमवती ने चूर्ण किया। इस विषय पर अगले खण्ड में विस्तार से विचार होना है इसलिए इसे यहीं छोड़ता हूँ।

देवो के सम्बन्ध में जो बातें वेद मे यत्र तत्र फैली हुई मिलती हैं उनका निष्कर्ष यह है :

जगत् के प्रत्येक संचय या विस्तार काल में, प्रत्येक उस काल में जो दो संकोचो या प्रलयों के बीच में आता है, कुछ न कुछ महातपस्वी, योगीश्वर होते ही है। यह लोग चाहें तो मोक्ष का आनन्द ले सकते हैं पर ऐसा करते नहीं। दूसरे जीवों के हित की दृष्टि से दूसरा जन्म धारण करना स्वेच्छया स्वीकार करते हैं। कुछ महायोगी ऐसे भी होते हैं जो अभी मोक्ष पदवी तक नहीं पहुँचे हैं परन्तु सविकल्प समाधि की ऊँची भूमिकाओं तक पहुँच गये हैं। संकोच के समय यह सब परमात्मा में प्रवेश करके दीर्घ आध्यात्मिक सुषुप्ति में डूब जाते हैं। जब नये जगत के बनने का काल आता है, परमात्मा क्षुब्ध होता है, हिरण्यगर्भ रूप से उसके सामने भावी जगत की रूपरेखा आ जाती है, तो फिर सोई हुई सभी आत्माएँ जागती हैं, पुरा कल्प के तपस्वी भी जागते हैं। यही नये कल्प के, नये जगत् के, देवगण होते हैं।

इन्हीं को लक्ष्य करके कहा गया है :

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन

(नासदीय सूक्त)

'सृष्टि के बाद देवगण आये।'

इन देवों को आजानदेव भी कहते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यह लोग 'नाक' में रहते हैं। नाक शब्द न, अ, क, इन तीन अक्षरों से मिलकर बना है। क का अर्थ है सुख, अक का अर्थ हुआ असुख अर्थात् दुःख, न अ क हुआ न असुख

अर्थात् न दुःख, अर्थात् सुख। तात्पर्य्य यह है कि नाक सर्वत्र है और कहीं नही है। वह किसी विशेष जगह बसा नगर नहीं है, चित्त की विशेष सुखमय अवस्था है। नाक को स्वः या स्वर्ग भी कहते हैं। इन देवों ने पिछले सर्ग में दीर्घतप से सिद्धि का अर्जन किया है। यों तो योगी को अनेक विभूतियाँ हो सकती हैं परन्तु पृथक्-पृथक् महात्मा ने पृथक्-पृथक् देवता, पृथक्-पृथक् शक्ति, पर विशेष रूप से अधिकार पाया है। उसी के अनुरूप उसकी संज्ञा होती है। जिसने विशेष रूप से वैष्णवी शक्ति, विष्णु नाम की देवता, को सिद्ध किया है वह विष्णु देव है। इसी प्रकार कोई इन्द्र, कोई यम, कोई रुद्र कहलाता है। उनसे प्रार्थना की जा सकती है, उनकी उपासना की जा सकती है। ऋगादि वेदों में जो भी अर्चना के मंत्र हैं वह उन्हीं लोगों की सेवा में अर्पित है। तप और श्रद्धा के सहारे मनुष्य उनका कृपा पात्र बन सकता है। इसीलिए उनको साध्य देव भी कहते हैं।

इनके अतिरिक्त एक और प्रकार के देवगण भी होते है। जो लोग इस जन्म में तप और पुण्य मे जीवन बिताते हैं वह भी मृत्यु के उपरान्त कुछ काल तक नाक का अनुभव करते हैं। उनको सुख मिलता है परन्तु कोई शक्ति विशेष नही होती। उनको 'कर्म्मदेव' कहते है। कुछ काल के बाद उनका नया जन्म होता है। उनकी उपासना नहीं की जाती।

साध्यदेव जीवों के कल्याण में कालयापन करते हैं। जिस प्रकार बड़ा भाई हाथ पकड़कर छोटे भाई को चलना सिखाता है उसी प्रकार वह दुर्बल जीवों को सहारा देकर धर्म्मपथ पर ले चलते हैं। कभी दंड भी देते हैं परन्तु वह भी प्राणियों के हित के लिए, जैसे कि कुशल चिकित्सक रोगी के हित के लिए कभी-कभी कड़वी औषध देता है। साधारणतः तो कुछ काल तक जीवों की सेवा करके यह लोग विरत हो जाते हैं और जिस मोक्ष को अब तक टाल रखा था उसकी सिद्धि में लगते हैं। उनके लिए भूर्लोक में मनुष्य शरीर में जन्म लेना आवश्यक नहीं है। स्वर्लोक या उसके ऊपर के लोकों से ही मोक्ष पद पा सकते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् मे किन्हीं इन्द्र का प्रजापति से ब्रह्मज्ञान का उपदेश लेना बतलाया गया है। इससे मिलती जुलती धारणा बौद्ध धर्म्म में बोधिसत्व के लिए है। जो लोग निर्वाण प्राप्ति के अधिकारी होते हुए जीवों पर दया करके स्वेच्छया

एक और जन्म लेना स्वीकार करते हैं उनको बोधिसत्व कहते हैं। अन्तिम शरीर धारण करने पर वही लोग बुद्ध होते हैं।

मनुष्यों के देवत्व प्राप्त करने का चर्चा वेदों में कई जगह आया है। जो लोग वेदोक्त विधि से रहते हैं उनके लिए कहा गया है :

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः
। ऋक् १०, ९०, १६ ।

'वह लोग नाक में, जहाँ प्राचीन साध्य देव रहते हैं, महिमाओं को, महती अनुभूतियों को, प्राप्त करते हैं।'

यही मंत्र प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त के ५०वें मंत्र के रूप में भी मिलता है।

मनुष्य के देवत्व प्राप्त करने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ११० वें सूक्त के तीन मंत्रों। ४ से ६ में ऋभुवों का चर्चा है। ऋभुओं की गणना देवों में होती है। यह तीन भाई सुधन्वा के पुत्र थे। यह तीन **अमर्त्येषु भव इच्छमानाः** तथा **उपमं नाधमानाः**—अमर्त्यों अर्थात् देवों की भाँति हवि पाने की इच्छा रखने वाले और सोमपान, की याचना करने वाले थे। इन्होंने। **मर्तासः**, मरणशील मनुष्य, होते हुए भी **विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो**, त्वरा के साथ वेदोक्त यज्ञदानतप करते हुए "**अमृतत्वमानशुः**"—अमृतत्व को, देवपद को, प्राप्त किया। वह लोग "**सूरचक्षसः**," सूर्य्य के समान प्रकाशमान् और ज्ञान सम्पन्न, हो गये तथा "**संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः**"—संवत्सर में समय-समय पर होने वाले यज्ञयागादि में हवि और सोम का अर्घ्य पाने के अधिकारी हो गये। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, कर्म्म देवों को यह अधिकार नहीं होता। जो लोग आजान देव पद पर पहुँचते हैं उनको ही उद्दिष्ट करके आहुति दी जाती है और सोम चढ़ाया जाता है। दुख सुख में उन्हीं से सहायता माँगी जाती है, उन्हीं के सामने अपनी याचनाएँ रखी जाती हैं।

इन प्रार्थनाओं के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से देवो के स्वभावों और कार्मों के विषय में बहुत कुछ जानकारी हो सकती है। आर्य्यों की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रार्थना तो वह है जो आज भी गायत्री मंत्र के नाम से परम आदर की दृष्टि से देखी जाती है। सबके सामने उसका उच्चारण तक नहीं किया जाता। उस मंत्र के द्रष्टा विश्वामित्र थे। परमात्मा के तेज के प्रतीक स्वरूप सविता—सूर्य्य के उस तेज का ध्यान किया जाता है **"धियो यो नः प्रचोदयात्"** जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करे। हम धन जन नही माँगते, यही चाहते हैं कि हमारी बुद्धि काम-क्रोधादि से प्रेरित न हो, स्वय परमात्मा से प्रेरित हो। इसी प्रकार विश्वाविय रुद्र से यह चाहते हैं कि **"स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु"** वह हमको शुभ बुद्धि प्रदान करें। इससे मुन्दर और पवित्र दूसरी कौन-सी प्रार्थना हो सकती है? ऐसी प्रार्थना दाता और आदाता दोनों की महत्ता की सूचक है।

जव कभी इस ऊँचे स्तर से उतर कर व्योरेवार इच्छाएँ व्यक्त की जाती थी उनके भी उदाहरण देखिए :

> **देवाना भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां, देवाना रातिरभि नो निवर्तताम्।**
> **देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं, देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥**
> । १, ८९, २ ।

'देवों की कल्याणमयी सुमति हम अनुष्ठानकर्ताओं पर हो, देवों का दान हमको मिलता रहे, देवो का सख्य, मित्रता हमको प्राप्त हो, देवगण हमको आयु प्रदान करें।'

सायं प्रातः सन्ध्या करनेवाले नित्य सूर्य्योपस्थान करते समय एक मंत्र पढ़ते हैं परन्तु उसके अर्थ की ओर ध्यान नही दिया जाता। उसमें बहुत ही सुन्दर प्रार्थना है :

> **जीवेम शरदः शतम्, पश्येम शरदः शतम्।**
> **शृणुयाम शरदः शतम्, प्रब्रवाम शरदः शतम्।**
> **अदीनाः स्याम शरदः शतम्।**

'हम सौ वर्ष जियें। सौ वर्ष तक देखें।' चक्षुरिन्द्रिय सभी ज्ञानेन्द्रियों का प्रतीक

मानी जाती है। अतः सौ वर्ष देखें का अर्थ हुआ हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सौ वर्ष तक काम देती रहें। सौ वर्ष तक सुनें। श्रवणेन्द्रिय की गणना ज्ञानेन्द्रियों में है, अतः उसका पृथक् नाम लेना व्यर्थ है। परन्तु वेद को श्रुति कहते हैं और गुरुमुख से ज्ञान ग्रहण करने को भी श्रवण कहते हैं। अतः सौ वर्ष तक सुनें कहने का तात्पर्य्य यह है कि हम सौ वर्ष तक ज्ञानोपार्जन करते रहें। सौ वर्ष तक बोलें। वाक् सब कर्म्मेन्द्रियों का प्रतीक है। अतः सौ वर्ष तक बोलें कहने का आशय यह है कि हमारी कर्म्मेन्द्रियाँ सौ वर्ष तक काम देती रहें। अन्त में कहा है कि हम सौ वर्ष तक अदीन रहें, किसी के आश्रित न हों। वह मनुष्य धन्य होगा, जिसकी यह प्रार्थना स्वीकार हो जाय। कहा जाता है '**शतायुर्वै पुरुष**' मनुष्य शतायु होता है। इसलिए सौ वर्ष कहने का अर्थ है यावदायु, पूर्ण आयु भर।

सब लोग सदैव ऐसे ऊँचे स्तर की बात नही कर सकते। आवश्यकता पड़ने पर देवों से धन, पशु, सन्तति और स्वास्थ्य की भी याञ्चा होती थी। युद्ध में विजय की भी कामना की जाती थी।

अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु अस्मान् उ देवा अवताहवेषु।

'हमारे वीरों की विजय हो, देवगण युद्धों में हमारी रक्षा करें।'

क्रोध मे आकर यह इच्छा भी कभी-कभी व्यक्त की जाती थी कि "**योऽस्मान् द्वेष्टिं, यं च वयं द्विष्मः**" उसको "**जम्भेदध्मः**", जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उसको दाँतों के नीचे रखकर पीस डालें।

मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छी बुरी वस्तुओं की माँग करता रहता है, परन्तु प्रत्येक माँग पूरी नहीं होती। आजकल तो हमने यह मान रखा है कि हम देवों से चाहे जो काम ले सकते हैं। झूठे सच्चे प्रत्येक काम में सहायता माँगते हैं और यदि काम दैवात् हो गया तो देवों को धन्यवाद भी देते हैं। पहिले ऐसा नही था। उपासक जानता था कि '**सत्यप्रिया हि देवा**' देवगण निश्चय ही सत्य के प्रेमी है। वह अधर्म्म को प्रश्रय नहीं देते, दुराचारी को कुबेर के पाश में फँसना पड़ता है। एक मंत्र कहता है :

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय, सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ।।
। ७, १०४, १२ ।

'इस बात को विद्वान् लोग भली भाँति जानते हैं कि सत्य और असत्य बातों में स्पर्धा होती रहती है। उनमे जो सत्य और अकुटिल है उसकी सोम रक्षा करते हैं और असत्य का हनन करते हैं।'

मैं आशा करता हूँ कि इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि देवों के विषय में आर्य्यों की धारणा क्या थी और देव शब्द का किस अर्थ में व्यवहार होता था। इन्द्रादि नाम रूढ़ि हों या न हों परन्तु योगरूढ़ि तो है ही।

वेद जहाँ देवों के नानात्व का चर्चा करता है वहाँ मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य की ओर भी बराबर संकेत रहता है।

ऋचो अक्षरं परमेव्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य उ तद्विदुस्त इमे समासते ।।
। ऋक् १, १८४, ३९ ।

वेद मंत्र परम व्योम* में अक्षर ब्रह्म के आश्रित हैं जिसके ही ऊपर या भीतर सब देवों का निवास है। जो उसको, उस अक्षर ब्रह्म को, नहीं जानता वह वेद के शब्दों को पढ़कर क्या करेगा ? जो लोग उसको जानते हैं, वह सम्यक् रूप से स्थित होते हैं, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते है।

दो शब्द असुरों के सम्बन्ध में भी कहना आवश्यक है। जहाँ आज इराक है प्राचीन काल में वहाँ शक्तिशाली असीरियन साम्राज्य था। कई विद्वानों का मत है कि असीरियन शब्द असुर का अपभ्रंश है और देवासुर संग्रामों के व्याज

---

* परम व्योम किसी लोक विशेष का नाम नहीं है। यह उस चरमावस्था की संज्ञा है जिसका अनुभव योगी को समाधि में होता है।

से उन लड़ाइयों का चर्चा है जो कभी आर्य्यों और असीरियन लोगों में हुई थीं। ऐसा होना असम्भव नहीं है। मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों के लिए देव और असत्प्रवृत्तियों के लिए असुर शब्द का व्यवहार हुआ है, ऐसा भी प्रतीत होता है। परन्तु इनके अतिरिक्त एक और भी अर्थ विशेष है, ऐसा देख पड़ता है।

जहाँ विश्व में परोपकारी सर्वभूतहितेरत सत्व हैं वहाँ दूसरों का अपकार करने वाले भी है। ऐसे सत्व भी है जिनका अन्तःकरण रागद्वेष तथा ईर्ष्या से भरा है, जो दूसरों का उत्कर्ष सहन नहीं कर सकते, सत्कार्य्यों में बाधा डालते हैं। उन्होंने भी कुछ तप किया है, कुछ सिद्धि कमायी है, कुछ शक्ति का संचय किया है। उसका दुरुपयोग करते हैं। ऐसे अल्पाशय क्षुद्रमना प्राणियों के लिए रक्षांसि, राक्षस, असुर या विनायक जैसे नाम आये हैं। वेद, विशेषतः अथर्ववेद, में इनके शमन के उपाय बताये हुए हैं। इनको यज्ञादि से दूर रखा जाता है। जब शव को स्मशान ले जाते थे तब भी इन लोगों को दूर ही रखते थे। उनसे कहा जाता था :

अपेत वीत वि च सर्पतातः

'दूर रहो, यहाँ से हट जाओ।'

पाँचवाँ अध्याय

वैदिक देव परिवार

चौथे अध्याय में देवों का कुछ परिचय दिया गया है। यों तो देव असंख्य हैं परन्तु मुख्य देवों की संख्या तैंतीस है, जिनमें वसु, रुद्र और आदित्य नाम के तीन गण तथा इन्द्र और प्रजापति हैं। ऋभु, आभास्वर तथा कुछ और गणों के नाम सुनने मे आते है पर उनका अन्तर्भाव इन्ही तैंतीस में हो जाता है।

देव परिवार के कुछ विशिष्ट सदस्यों का थोड़ा-सा परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। इससे उन परिवर्तनों को समझने मे सुविधा होगी जो वैदिक काल के पीछे हुए।

अग्नि

कई दृष्टियों से अग्नि का स्थान बहुत ऊँचा है। वह हव्यवाहन हैं, उन्हीं के द्वारा अन्य देवो को हवि पहुँचायी जाती है। उनको रुद्र से अभिन्न माना गया है। उपासक उनसे कहता है : **"युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः"** हमसे कुटिल पापों को दूर करो। उनको व्रतों का, शुभ संकल्पों का, स्वामी कहते है। किसी भी अच्छे अनुष्ठान के पहिले उनसे इस प्रकार की प्रार्थना की जाती है।

"अग्ने व्रतपते, व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि"

'हे व्रतपते अग्नि, मैं व्रत, अनुष्ठान, करूंगा। उसको सम्पन्न

करिए, मुझको शक्ति दीजिए कि उसे पूरा कर सकूं। यह मैं मिथ्याचार का परित्याग करके सत्य को अंगीकार करता हूँ।'

प्रजापति

प्रजापति हिरण्यगर्भ का नाम है। इनका ही दूसरा नाम ब्रह्मा है। हिरण्यगर्भ वस्तुतः परमात्मा से अभिन्न है, इस बात को यह मंत्र व्यक्त करता है :

> प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
> तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।।
> । शुक्लयजुर्वेद ३१, १९।

'वस्तुतः अजायमान, अज, अजन्म, होते हुए भी प्रजापति गर्भमें आते हैं और अनेक प्रकार से जन्म लेते है। उनके वास्तविक स्वरूप को, जिसमें सभी भुवन स्थित हैं, धीर लोग, योगी जन, देखते हैं।'

प्रजापति ही विश्वकर्म्मा हैं, सारे चराचर जगत् के रचयिता हैं। उनके सम्बन्ध मे कहते है :

> वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतये मनोजुवं वाजे हुवेम।
> स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्म्मा।।
> । १०, ८१, ७।

'हम आज मनोवेग से चलने वाले वाचस्पति विश्वकर्म्मा को यज्ञ में बुलाते है। वह हमारे सब हवनों को स्वीकार करें। वह साधुकर्म्मा हैं, सबका कल्याण और सब की रक्षा करें।'

पीछे के काल में विश्वकर्म्मा की दुर्गति कर दी गयी। उनको एक मिस्त्री या घर बनानेवाले कारीगर के स्तर पर गिरा दिया गया। दूसरों की आज्ञा पर

घर बनाते फिरते थे। कृष्ण के आदेश पर सुदामा के प्रासाद बनाने की कथा प्रसिद्ध ही है।

बृहस्पति

इस नाम के एक देव हैं और अंगिरा गोत्र के एक ऋषि हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि ऋषि बृहस्पति ही बृहस्पति देव हो गये या दोनों दो व्यक्ति है। बृहस्पति बृहताम्पति, वाक्पति, वाणी के स्वामी हैं। उनका एक नाम ब्रह्मणस्पति भी है। उसका अर्थ है, ब्रह्मणः ब्रह्म के, वेद के, पति। यह सब नाम एक ही ओर ले जाते है। पहिले अध्याय मे हम देख चुके है कि वाक् के चार रूप हैं जिनमे सब से सूक्ष्म परा है जिसका अनुभव किसी महायोगी को ही होता है। वाक्पति होने का अर्थ है परावाक् का ज्ञाता होना। दशम् मंडल के ७१वें सूक्त में स्वय बृहस्पति दृष्ट कई मंत्र वाक् के सम्बन्ध में है।

वैदिक काल के बाद बृहस्पति की भी मर्य्यादा नष्ट कर दी गयी और वह देवों के पुरोहित बनाकर बैठा दिये गये। उनकी जोड़ में असुरों के पुरोहित उशना, शुक्र, खड़े कर दिये गये।

विष्णु

विष्णु के तीन पद चलने का कई जगह चर्चा है। उन्होंने बहुत वेग से तीन पदों में विश्व को पार कर लिया इसलिए बहुधा उनके नाम के साथ उरुक्रम विशेषण लगा रहता है। उनको उपेन्द्र और इन्द्रावरज—इन्द्र का छोटा भाई, भी कहते हैं। बहुत से युद्धों मे उन्होंने इन्द्र का साथ दिया है, इन्द्र के विशेष रूप से विश्वासपात्र हैं। इसलिए **इन्द्रस्य युज्यः सखा**, इन्द्र का प्रिय साथी, इन्द्र की इच्छा के अनुसार काम करनेवाला मित्र, भी कहा गया है। विष्णु उपास्य हैं परन्तु उनकी उपासना सुकर नहीं हैं :

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परमं पदम् । १, २२, २१।

'विष्णु के परमपद को मेधावी, स्तुतिशील, सदा जागरूक लोग दीप्तिमान करते हैं, देखते हैं।

रुद्र

रुद्र का रूप घोर भी है और अघोर भी है। अघोर रूप में उनकी शिव, शम्भु, शंकर संज्ञा है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् तो ऐसा मानते हैं कि रुद्र को आर्य्यों ने अनार्य्यों से लिया है। उनको यह समझने में कठिनाई होती है कि एक ही देव संहारक और कल्याणकारी कैसे हो सकता है। हम इस संबन्ध में आगे विचार करेंगे। मनुष्यों को यह उपदेश दिया गया है :

आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः ॥
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥
। ४, ३, १ ।

'हे मनुष्यो, वज्रपात के समान यकायक आनेवाली मृत्यु के पहिले यज्ञ के स्वामी, द्यावापृथिवी में सत्यज्ञान के दाता, तेजोमय, अग्नि के समान दोषों के भस्म करने वाले, रुद्र की रक्षा के लिये उपासना करो।'

इन्द्र

वेदों में इन्द्र के सम्बन्ध में जितने मंत्र हैं उतने अन्य सब देवों के लिए मिलाकर भी नहीं हैं। अधिकांश मन्त्रों में इन्द्र अकेले है, परन्तु कहीं-कहीं उनके साथ किसी अन्य देव, जैसे वरुण या अग्नि, का भी नाम आया है। इन्द्रदैवत अर्थात् इन्द्र से सम्बन्ध रखनेवाले मंत्रों में चुनाव करना कठिन होता है परन्तु। मैं जो बहुत थोड़े से अवतरण दे रहा हूँ उनसे यह तो स्पष्ट हो ही जायगा कि आर्य्य जीवन में इन्द्र का क्या स्थान था। इनसे यह भी पता चल जायगा कि पौराणिक काल में इन्द्र को कितना नीचे गिराया गया। इन्द्र को तो स्थानभ्रष्ट कर दिया गया, परन्तु उनकी जगह कोई दूसरा न ले सका, वह स्थान आज भी रिक्त है। राम, कृष्ण ऊपर उठे परन्तु इन्द्र जैसा ओज, वीर्य्य या तेज उनमें नहीं है। वह दासता

में जकड़े हुए निस्तेज हिन्दू को दुःख भुला देने में सहायता देते हैं परन्तु विजय का सन्देश नही सुनाते : आँसू पोछ देते हैं, परन्तु स्फूर्ति नहीं दे सकते। ऐसा मार्ग नही बताते जिससे आँसू बहे ही नही। आज का "कर्ता राम करै सोई होय" कहकर रोने गाने वाला हिन्दू कर्ण की इस उक्ति से बहुत दूर चला गया है "दैवायत्त कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्" देव ने जिस कुल में चाहा जन्म दे दिया, परन्तु पौरुष मेरे हाथ की वस्तु है। इन्द्र को छोड़कर हम सत्वहीन हो गये। यदि हमको ऊपर उठना है तो फिर इन्द्र की शरण जाना होगा, चाहे हम उनको किसी नाम से स्मरण करें।

य एकश्चर्षणीनाम् वसूनामिरज्यति। इन्द्रः पंचक्षितीनाम्।

'जो इन्द्र अकेले सब मनुष्यों और सब धनादि मूल्यवान् वस्तुओं के स्वामी है।' वेदों में मनुष्यों को पंचजनाः, पंचक्षितयः, जैसे शब्दो से उपलक्षित किया गया है। किस आधार पर पचधा विभाग किया गया था यह स्पष्ट नही है। सायण के अनुसार ब्राह्मणादि चार वर्ण और निषाद से तात्पर्य्य है। पर यह समीचीन नही प्रतीत होता।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपितानरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोर-मुते माहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्य्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥

। २, ७२, २, ५, ७, ९।

'जिसने जगत् के आदि काल में हिलती हुई पृथिवी को दृढ़ किया और कुपित अर्थात् अस्थिर और कम्पनशील पर्वतों को शान्त किया, जिसने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को बनाया और द्युलोक को स्तब्ध किया, लोगो, वही इन्द्र हैं।

'जिसके सम्बन्ध में लोग पूछते हैं कि वह कहाँ है, कोई कहता है कि वह नहीं है, वह शत्रु के धनादि का विनाश करते रहते हैं, इसी से यह विश्वास होना चाहिए कि इन्द्र हैं।'

'जिसके वश में विश्व भर के सभी पशु, सभी मनुष्य, सभी उपभोग्य सामग्री है, जिसने सूर्य्य और उषा को बनाया, लोगो, वही इन्द्र हैं।'

जिसके बिना विजय नहीं होती, जिसको युद्ध में रक्षा के लिए बुलाते हैं, जो विश्व का प्रतिमान, प्रतिनिधि, है, जो अच्युतों को भी च्युत करने वाला है, लोगो वह इन्द्र हैं।'

इन्द्रं वो नरः सख्याय सेपुर्महो यन्तः सुमतये चकानाः ।।
महो हि दाता वज्रहस्तो अस्ति महायुरण्वं अवसे यजध्वम् ।।

। ६, २९, १ ।

'हे यजमान, तुम्हारे यज्ञ कराने वाले इन्द्र की इसलिए परिचर्य्या करते हैं कि उनका सख्य प्राप्त हो और उनसे सुमति, सद्बुद्धि मिले, इन्द्र वज्रहस्त, बलवान् और दाता हैं, तुम रक्षा के लिए उनका यजन करो।'

कदा त इन्द्र गिर्वणः स्तोता भवाति शंतमः

। ८, १३, २२ ।

'हे इन्द्र, हम कब सुख के साथ तुम्हारी स्तुति करेंगे।'

इस मंत्र की ध्वनि रावणकृत शिवताण्डवस्तोत्र में मिलती है :

'शिवेति मंत्रमुच्चरन् कदा सुखी भवाम्यहम्'—शिव शिव मंत्र जपता हुआ मैं कब सुखी हूँगा।

विश्वेत इन्द्र वीर्य्यं देवा अनुक्रतुं ददुः।
भुवो विश्वस्य गोपतिः पुरुष्टुत भद्रा इन्द्रस्य रातयः। ८, ६२, ७।

'हे इन्द्र, तुम्हारे वीर्य्य और प्रज्ञा का अनुसरण करके सब देवगण वीर्य्य और प्रज्ञा को धारण करते है अर्थात् तुम्हारे ही बल से शक्तिमान् और प्रज्ञावान् हैं। आप सब स्तुतियों के स्वामी है, आपकी स्तुति बहुत लोग करते हैं। इन्द्र के दान, इन्द्र की दी हुई वस्तुएँ, कल्याणकारी होती हैं।'

आप सब स्तुतियों के स्वामी है इस विश्वस्य गोपतिः की ध्वनि प्रचलित उक्ति में मिलती है, 'सर्वदेवनमस्करं केशवं प्रतिगच्छति।'

'सब देवों को किया हुआ नमस्कार केशव को पहुँचता है।'

इन्द्राय सामगायत विप्राय बृहते बृहत्।
धर्म्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्य्यमरोचयः।
विश्वकर्म्मा विश्वदेवो महां असि॥ ८, ९८, १, २।

'इन्द्र के लिए बृहत् नाम के साम का गान करो। इन्द्र मेधावी हैं, महान् है, धर्म्मकर्त्ता है, विद्वान् हैं और स्तुति के पात्र हैं। हे इन्द्र, तुम शत्रु विजयी हो, तुमने सूर्य्य को प्रकाश दिया है, तुम विश्व के कर्ता हो, तुम्हीं सब देव हो, तुम महान् हो।'

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥

। १०,८९, १०।

'इन्द्र द्युलोक—स्वर्ग के, इन्द्र पृथिवी के, इन्द्र जल के और पर्वतों के, इन्द्र

वृद्धों के और प्रज्ञाशीलों के स्वामी हैं। क्षेम और योग* दोनों के लिए इन्द्र हव्य हैं, उपास्य हैं।'

आस्तिक घरों में रुद्री—रुद्राष्टाध्यायी के पठन पाठन का चलन है। बहुत से अवसरों पर इसका पाठ होता है। आठ अध्यायों में यजुर्वेद के कई अध्यायों से चुने हुए मंत्र आ गये हैं। आठवें अध्याय में जो मंत्र हैं उनमें यज्ञ के द्वारा विभिन्न पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा प्रकट की गई है। हर मंत्र के अन्त में **यज्ञेन कल्पन्ताम्** शब्द आये हैं।

इसमें दो मंत्रो १६ और १७ मे कई देवों के नाम हैं। सब मिलाकर १२ नाम आये है और बारह बार ही इन्द्र का नाम आया है। प्रत्येक देव के नाम के के साथ इन्द्र का नाम आता है । उदाहरण के लिए १६ वां मंत्र देखिए।

अग्निश्चमऽइन्द्रश्च मे सोमश्च मऽइन्द्रश्च मे सविता च
मऽइन्द्रश्च मे सरस्वती च मऽइन्द्रश्च मे पूषा चमऽइन्द्रश्च
मे बृहस्पतिश्चमऽइन्द्रश्च यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

इसका यही तो अर्थ हो सकता है कि और सब देवगण तो यज्ञ में कृपा करें ही परन्तु इन्द्र तो अवश्य ही आवे।

इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्रः पुरू पुरुहूतः। महान्महीभिः शचीभिः।
। ८, १६, ७ ।

'इन्द्र ब्रह्मा और ऋषि है, इन्द्र को सब पुकारते है, इन्द्र महती शक्तियों से युक्त हैं।'

मैं अब केवल दो अवतरण देना चाहता हूं। इनमें से दूसरे का अर्थ तो बहुत ही गम्भीर है।

*** अप्राप्त की प्राप्ति को योग और प्राप्त की रक्षा को क्षेम कहते हैं।**

त्वं विश्व दीधषे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि।
काममिन्मे मघवन्मा वि तारीस्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता ॥
। १०, ५४, ५ ।

'हे इन्द्र, जो प्रकट और गुप्त तत्व किसी दूसरे को ज्ञात नहीं हैं, उनको तुम जानते हो। इसलिए, हे मघवन्, मेरी इच्छा को पूरी करो, मुझ पर वह तत्व प्रकाशित करो। तुम ही आज्ञाता हो, तुम ही दाता हो।'

दूसरा मंत्र इस प्रकार है :

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति ।
त्वमंग तानि विश्वानि वित्से येभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ ॥ १०,५४, ४।

'हे महान् इन्द्र, तुम्हारे चार ऐसे नाम हैं जिनकी कोई हिंसा नही कर सकता। उनके द्वारा तुमने कर्म्म किये थे। उन सब को तुम्ही जानते हो।'

इस मंत्र का अर्थ निगूढ है। नाम गोप्य हैं, उनका कही उल्लेख नहीं है। नामों के द्वारा काम करने का क्या अर्थ है? इस विषय में थोड़ा-सा संकेत अगले सूक्त के मत्रों में मिलता है। वस्तुतः यह विषय योगगम्य है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इस बात का चर्चा है कि दैत्यराज विरोचन के साथ इन्द्र ब्रह्मा के पास ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए गये थे। दैत्यराज तो थोड़े ज्ञान से सन्तुष्ट होकर लौट गये परन्तु इन्द्र ने चार सौ वर्ष तक गुरुकुल में श्रद्धापूर्वक निवास करके ज्ञान प्राप्त किया। उनका नाम आयुर्वेद के आचार्य्यों मे भी आदर के साथ लिया जाता है। वैदिक आर्य्य इन्द्र को देवराज कहकर पुकारता था, उनसे युद्ध मे विजय की कामना करता था और सदा ही अन्न, धन, पशु और सन्तति की आशा रखता था पर वह उनके तात्विक स्वरूप को भी जानता था। इन्द्र परमात्मा से अभिन्न हैं, इस बात का साक्ष्य यह मंत्र देता है :

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥

। १०, ५४, २ ।

'हे इन्द्र, लोगों में तुम्हारे शरीर और बल का जो चर्चा है वह तुम्हारी माया है। तुम्हारे जो युद्ध बताये जाते हैं वह भी माया हैं। न आज तुम्हारा कोई शत्रु है, न पूर्वकाल में तुमसे किसी से युद्ध हुआ था।'

मरुत्

मरुत् का पर्य्याय वायु है, लोक में यह नाम अधिक प्रचलित है। यह उन शब्दों में है जिनकी व्याख्या बहुधा अयथार्थ रूप से होती है। वेदों के अनुसार परमात्मा मर्त्य लोक मे अग्नि रूप से, द्युलोक में आदित्य रूप से और मध्य लोक में वायु रूप से व्याप्त है। अग्नि का अर्थ केवल आग नहीं हो सकता। वह दावाग्नि-जठराग्नि, बड़वाग्नि मात्र ही नहीं है, ऊर्जा के सभी भेद अग्नि के ही भेद है। इतना ही नहीं, चेतन की चेष्टाएँ भी अग्नि से ही स्फूर्त हैं। इसीलिए कहा है कि हे अग्नि , तुम मर्त्यों में अमर्त्य हो। इसी प्रकार द्युलोक, देवलोक की सारी सूक्ष्म चेष्टायें आदित्य के आश्रित हैं। मध्य लोक या अन्तरिक्ष का स्वामी वायु है। अन्तरिक्ष किसे कहते है, इस सम्बन्ध में बड़ी भूल होती है। ऐसा मान लिया जाता है कि पवन मंडल ही अन्तरिक्ष है। इस अवस्था में अन्तरिक्ष की पहुँच भूतल से चाँर पांच सौ मील होगी। यह भूल है। अन्तरिक्ष में ग्रहनक्षत्र-संकुल सारा आकाश है। मरुत् के उनचास भेदों मे प्रवह है जो नक्षत्रों को गति प्रदान करता है। जहाँ भी गति है, कम्पन है, वहीं मरुत् देवता अभिव्यक्त हैं।

अधर्म्म के विरुद्ध युद्ध करने में मरुद्गण इन्द्र के प्रबल सहायक रहे हैं। उनसे प्रार्थना की गयी है :

देवसेनानामभिभञ्जतीनाम् जयन्तीनाम् मरुतोयन्त्वग्रम् ।

'शत्रुओं का मर्दन करती हुई विजयिनी देवसेना के आगे मरुद्गण चलें।'

वरुण

आजकल वरुण केवल जल के अधिष्ठाता रह गये हैं। वैदिक काल में उनका पद बहुत ऊँचा था। लोक में धर्म्म का अनुष्ठान कराना और उन्मार्ग-गामियों को दण्ड देना उनका विशेष काम था। दुष्कर्म्म करने वालों को वह उस पाश में बांधते थे जो बराबर उनके हाथ में रहता था। पाश से छुटकारा पाने की बार-बार प्रार्थना होती है। सोम और रुद्र से निवेदन है :

प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशाद् गोपायतं नः सुमनस्यमाना:
। ६, ७५, ४ ।

'आप लोग प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करें और वरुण के पाश से छुटकारा दिलावें ।

उपासक वरुण से कहता है :

यत्किञ्चेदं वरुण दैव्येजनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देवरीरिषः॥
। ऋक् ७, ८९, ५ ।

'हे देव वरुण, हमने जो कुछ देवों का द्रोह किया हो या मनुष्यों का अपकार किया हो या प्रमादवश तुम्हारे धर्म्म से विमुख हुए हों, उस पाप के लिए हमारी हिंसा मत करो।'

अश्विद्वय

इन दोनों देवों को हम आजकल प्रायः बिल्कुल भूल गये हैं। पुराणों में इतना चर्चा तो आता है कि यह दोनों भाई जुड़वां थे, सूर्य्य के पुत्र थे और अश्वरूपिनी माता के पेट से पैदा हुए थे। इनका काम देव लोक में चिकित्सक का बताया गया है परन्तु आयुर्वेद के आचार्य्यों में इनकी गणना नहीं है। वेद में

इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनका नाम नासत्य भी है। ऐसा प्रमाण मिलता है कि यह दोनों भाई नासत्य नाम से भारत के बाहर भी कहीं-कहीं पूजे जाते थे। इनके संबन्ध के जो मंत्र मिलते हैं उनको देखने से यह लोकसंग्रह की जंगम मूर्ति प्रतीत होते हैं। दीन दुखियों की सहायता करना ही इनका मुख्य काम है। चाहे किसी प्रकार का कष्ट हो, यह उसे दूर करने को उद्यत रहते हैं। सहायता इन्द्र भी करते हैं, परन्तु इन्द्र का रोब छाया रहता है, मैं बड़े के सामने हूँ, यह भाव बना रहता है, अश्वियों के साथ स्नेह और आपसदारी की भावना जागती है। उनके व्यवहार में अनौपचारिकता रहती है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ११२वें सूक्त में २५ मंत्र हैं। इनमें अश्विद्वय से ही सद्बुद्धि, धन, अन्न और रक्षा की प्रार्थना की गयी है और उन बहुत से लोगों के नाम दिये गये हैं जिनको अश्वियों ने समय समय पर विपत्तियों से छुड़ाया था। सूची बहुत लंबी है। किसी को शत्रुओं ने बाँध कर कुएँ में डाल दिया था, किसी का जहाज़ समुद्र में डूब रहा था, कोई आग से जलाया जा रहा था। ऋजाश्व ऋषि अन्धे थे, उन्हें आँख मिली। औशिमज बणिक के लिए मेघ बरसाया, जंघा टूट जाने से चलने में असमर्थ विश्पला के घर पर ही धन का ढेर लग गया। मनुष्य ही नहीं, इतर जीव भी उनकी कृपा के पात्र थे। वर्तिका नाम की चिड़िया भेड़िये के चंगुल से छुड़ाई गयी। खेद की बात है कि हम ऐसे परोपकारी और लोक हितकारी देवों को भुला बैठे। देव लोग तो अमर, अमर्त्य, अजर, और अस्वप्न कहलाते हैं, पता नहीं उनमें कोई रोगी कैसे होता है! जिन आधारों पर अश्वियों को चिकित्सक माना जाता है, उनकी झलक इस मंत्र में मिलती है :

त्रि नो अश्विना दिव्यानि भेषजा, त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः।
ओमानम् शंयोर्ममकाय सूनवे, त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती॥
। १, ३४, ६ ।

आंगिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं :

'हे अश्विद्वय, आपने द्युलोकवर्ती, पार्थिव और अन्तरिक्षवर्ती औषधियाँ हमको तीन बार दीं। बृहस्पतिपुत्र शंयु को ओमा नाम का जो विशेष सुख प्राप्त है, वह मेरे पुत्र को दिया। आप त्रिधातु (वात, पित्त, कफ) को शमन

करने वाली औषध हमको प्राप्त करावें। आप शुभ पदार्थों के स्वामी हैं।'

यम

देव सूची में यम का नाम देखकर कुछ लोगों को आश्चर्य हो सकता है क्योंकि यम को सहायक और कल्याणकारी नहीं माना जाता। वैदिक काल में ऐसा नहीं था। नीचे कुछ ऐसे मंत्र दिये जा रहे है जिनमें सद्योमृत व्यक्ति को सम्बोधित किया गया है। इनसे यम के स्वरूप का भान होता है।

यमो नो गातुं प्रथमं विवेद, नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनुस्वाः। १०, १४, २।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता, यमं पश्यासि वरुणं च देवम्।१०,१४,७।

'सबसे पहिले यम ने हमारी गति को जाना। उनका मार्ग नष्ट नहीं किया जा सकता। हे जीव, जिस मार्ग से हमारे पूर्व पितृगण गये और जहाँ वह गये, तुम भी उनका अनुसरण करो। जाओ, जाओ, उन पथों से जिनसे हमारे पूर्व पितृगण गये है। हमारे दिये हुए हवि से प्रसन्न हुए यम और वरुण दोनों राजाओं को देखोगे।'

'सबसे पहिले यम ने हमारी गति को जाना' कहने का विशेष अभिप्राय है। ऐसा माना जाता है कि यम पहिले मनुष्य थे जिनकी मृत्यु हुई। पारसियों के ग्रंथ अवेस्ता में भी यही बात लिखी है। वहाँ यम का नाम यिम हो गया है। इतना ही नहीं, और भी सादृश्य है। यम के पिता का नाम विवस्वान् था, इसीलिए यम को वैवस्वत कहते हैं। अवेस्ता में उनके पिता का नाम विवनघत लिखा है। ऐसा माना जाता है कि यम के साथ सदा दो कुत्ते रहते हैं। एक का रंग काला है, दूसरे का श्वेत—**द्वौ श्वानो श्याम शबलौ।**

नीचे हम एक ऐसा मंत्र देते हैं जिसमें पुनर्जन्म की ध्वनि निकलती है। मृत व्यक्ति की आत्मा से कहते हैं :

सूर्य्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्म्मणा।
अपोवा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरे ।।
। १०, १६, ३।

'तुम्हारी आँख सूर्य्य को प्राप्त हो और आत्मा वायु को, अपने धर्म्म के अनुसार स्वर्ग जाओ या पृथिवी पर रहो, यदि तुम्हारा हित हो तो जल में जाओ या औषधियों के शरीरों में रहो।'

ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य्य और वायु में चक्षु और आत्मा के मिलने की बात आशीर्वादात्मक है। शेष में जीव के धर्म्म के, उसके कर्म्मों के संस्कारों के, अनुसार नये शरीर पाने की ओर संकेत है।

कुबेर

आजकल की धारणा के अनुसार कुबेर यक्षों के राजा हैं। उनका नगर अलकापुरी बदरीनाथ से भी उत्तर है। वह स्वयं शंकर के पार्षद हैं और देवलोक के कोषाध्यक्ष हैं। परन्तु किसी समय उनका स्थान बहुत ऊँचा रहा होगा। आज भी जब कभी कोई यज्ञ या वैदिक, अर्द्ध-वैदिक कृत्य होता है तो ब्राह्मण लोग यह आशीर्वाद पढ़ते हैं :

राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे।
स मे कामान् कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु।
कुवेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः !

'हम लोग अति बलवान राजाधिराज वैश्रवण (विश्रवा के पुत्र) को प्रणाम करते हैं। वह कामेश्वर हमारे सब कामों को, इच्छित पदार्थों को, हमें दें। वैश्रवण महाराज कुबेर को प्रणाम।'

देवियाँ

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि वैदिक देव परिवार में देवियाँ हैं या नहीं।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक देव के साथ उसकी शक्ति, साधारण बोलचाल में उसकी पत्नी, संलग्न है। चाहे पृथक् उल्लेख हो या न हो, जहाँ देव हैं वहीं देवियाँ भी है। देवी ही देव को सशक्त करनेवाली देवता है। उसके बिना देव निर्वीर्य्य है, सामान्य जीव है। यह तो सिद्धान्त की बात हुई। देवियों का स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है :

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवास्ते या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवा शर्म यच्छत।

उतग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनीराट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥
। ५, ४६, ७, ८।

'देवों की पत्नियाँ प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करें। हमारे बलवान् पुत्रों की युद्ध में रक्षा करें। जो देवियाँ पार्थिव हैं और जो अन्तरिक्षचारिणी है, वह सब हमारी प्रार्थना को शीघ्र सुनकर हमारा कल्याण करें।'

देव पत्नियां इन्द्राणी, आग्नेयी, अश्वियों की विराजमनापत्नी अश्विनी, रुद्राणी और वरुणानी सर्वतः सुने और हवि को ग्रहण करे।'

पितृगण

पितरों की गणना देव परिवार के अंगों मे नहीं है, परन्तु वह उससे बहुत दूर भी नही हैं। बहुधा उनका नाम उसी आदर से लिया जाता है जिसके साथ देवों का स्मरण किया जाता है।

जिन लोगों की मृत्यु होती है उनको कई वर्गों में बाँट सकते हैं। सर्वोपरि तो ब्रह्मज्ञानी, मुक्तपुरुष, आते हैं। इनको कहीं आना-जाना नहीं है, न पुनः शरीर धारण करना है। '**न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ते, न सपुनरावर्तते**'—ऐसे वाक्यों में इनकी स्थिति स्पष्ट कर दी गयी है। इनके बाद महायोगी आते हैं।

जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है **'जिज्ञासु प्रथम कल्पिक'** भी शब्दब्रह्म से ऊपर जाता है अर्थात् उसकी गति वैदिक यज्ञ-याग करने वालों से प्रशस्त होती है। योगीश्वर अपनी योगसिद्धि के अनुसार महर्लोकादि लोकों को जाते हैं। वह अपना योगाभ्यास वहीं जारी रखते हैं, फिर मनुष्य शरीर नहीं धारण करते। गरुड़ पुराण में लाक्षणिक भाषा में लिखा है कि जब किसी ऐसे योगी के प्राण यम की संयमनीपुरी से होकर निकलते हैं तो यम खड़े होकर उनका अभिवादन करते हैं और कहते हैं कि आप ने कृपा करके हमारे नगर को पवित्र किया।

जो लोग घोर पापाचारी हैं वह निरय या नरक में जाते हैं। वेदों में इसके लिए तृतीय धाम शब्द आया है। इनको काल पाकर फिर शरीर धारण करना होगा। इसके विपरीत जो उग्र तपस्वी, साधक, पुण्यकर्म्मा मनुष्य है वह देवयान मार्ग से नाक को प्राप्त होते हैं। नाक को स्वर्लोक भी कहते हैं। यह लोग कर्म्मदेव होते हैं। नाक वह लोक है जहाँ आजान देवों, साध्यों, का निवास होता है।

सत्कर्म्मियो में ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो न तो कोई विशेष तपश्चर्य्या करते है, न साधना, न किसी देव देवी की विशेष रूप से उपासना करते हैं परन्तु धर्म्ममय जीवन बिताते हैं। इनकी निष्ठा कर्त्तव्य पालन में ही होती है। यह वह लोग है जिनको कर्म्मयोगी भी कहते हैं। मरने पर ऐसे व्यक्ति पितृयान मार्ग से पितृलोक को जाते हैं। इनको ही पितृ कहते हैं। धार्मिक जीवन बिताना, कर्तव्य का पालन करना, कष्ट सहकर भी सत्य, अहिंसा आदि यमों का पालन करते हुए **सर्वभूतहिते रताः**, सब प्राणियों के हित में लगे रहना, बड़ा कठिन काम है। जो ऐसा जीवन निबाहता है वह बहुत बड़ा तपस्वी है। ऐसे लोग पितृगण में भी श्रेष्ठ होते हैं। बर्हिषद् और सोमपा पितर एक प्रकार से देव-तुल्य माने जाते हैं। उनके आशीर्वाद से उनके कुलवालों का ही नहीं मनुष्यमात्र का कल्याण होता है। पितरों में से कुछ तो सीधे देवलोक में चले जाते हैं, शेष पुनः मानव शरीर धारण करते हैं।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥

। १०, १५, ५।

एक बात पहिले कह चुका हूँ, उसे फिर दुहराना चाहता हूँ। नाक, तृतीय धाम, पितृलोक यह सब दिग्वर्ती देश या नगर नहीं, प्रत्युत चित्त की अवस्थाएँ है। यह सर्वत्र हैं और कहीं नहीं हैं। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि स्वर्गादि के अस्तित्व को मानना पुनर्जन्म से मेल नहीं खाता। मुझ को इस में सामञ्जस्य का अभाव नहीं देख पड़ता। स्वर्गादि केवल भोगावस्थाएँ हैं, मनुष्यादि शरीर को धारण करना कर्म्म और भोग की मिली जुली अवस्था है। कोई व्यक्ति पुरस्कार योग्य कार्य करता है। पुरस्कार मिलने के पूर्व भी उसे सुख की अनुभूति होती है। इसी प्रकार अपराधी को दण्ड मिलने के पहिले दुःख की अनुभूति होती है। स्वर्गादि की स्थिति इन उदाहरणों से समझी जा सकती है।

छठाँ अध्याय

पौराणिक काल की भूमिका

पौराणिक काल से मेरा तात्पर्य्य उस काल से है जब कि मुख्य पुराण लिखे गये। पुराणों का संस्कार और सम्पादन तो बहुत दिनों तक होता रहा और थोड़ा बहुत अब भी हो रहा है। परन्तु उनकी रचना का काम प्रायः उन शताब्दियों मे सम्पन्न हुआ जब कि भारत गुप्त सम्राटों के शासन में था। जैसा कि कुन्हन राजा ने 'सर्वे आव संस्कृत लिटरेचर' मे दिखलाया है, पुराणों में विक्रम की छठी शती के बाद का इतिहास प्रायः नहीं मिलता। राम और कृष्ण की कथा तो रामायण और महाभारत में भी है परन्तु इसके सिवाय पुराणों में मौर्य काल के पहिले का बहुत कम वृत्तान्त मिलता है। मौर्य्य काल का भी अति संक्षिप्त दर्शन होता है। शुंग वंश के हाथ में शासन आने के बाद ही पुराण ग्रन्थों का लिखा जाना सम्भव था क्योंकि इसके पहिले बौद्धों का बोल बाला था। शुंगों के साथ फिर से वैदिक धर्म्म लौटा। प्रथम शुंग नरेश पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ करके पुनः वैदिक यज्ञयागों को प्रोत्साहन दिया। गुप्तों के समय में पुनः स्थापित वैदिक धर्म्म अपने शिखर पर पहुँच गया। इन्हीं शताब्दियों में पुराण लिखे गये होंगे।

चन्द्रगुप्त और अशोक के समय में भी भारत का राजनीतिक स्थान बहुत ऊँचा था। विशाल साम्राज्य था, देश में सुव्यवस्था थी, किसी विदेशी को यह साहस नही हो सकता था कि इस देश की ओर कुदृष्टि से देख सके। गुप्त सम्राटों का शासन क्षेत्र दक्षिण में तो कुछ छोटा हो गया था परन्तु पश्चिमोत्तर दिशा में जहाँ शकादि ने सिर उठाया था और भारत पर आक्रमण भी किया था गुप्त

सेना का शिविर मध्य एशिया की वक्षु नदी के तट पर होता था। देश के भीतर शान्ति थी, व्यापार व्यवसाय उन्नति पर था, प्रजा प्रसन्न थी। शासन का केन्द्र राजा था पर वह धर्म्म शास्त्रों के उदार नियमों के अनुशासन में था, अतः प्रजा सुखी थी। किसी के धार्मिक आचार विचार में बाधा पड़ने का प्रश्न ही नही उठता था।

शस्त्रेण रक्षिते राज्ये शास्त्रचर्चा प्रवर्तते—सुव्यवस्थित और सुरक्षित राज्य में ही शास्त्र चर्चा को अवकाश मिलता है। इन शताब्दियों में भारतीय प्रतिभा निखर उठी। उत्कृष्ट कोटि के काव्य ग्रन्थ लिखे गये और आयुर्वेद, व्याकरण, गणित की पुस्तकों की रचना हुई। न केवल हिन्दू वरन् बौद्ध और जैन वास्तु कला को भी विकसित होने का अवसर मिला। बौद्ध और जैन प्रभाव ने एक नयी कला, मूर्ति निर्माण, को जन्म दिया था। बौद्ध और जैन सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक, गौतम बुद्ध और महावीर, ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उन्होंने अपने तप और वैराग्य से सर्वोच्च आध्यात्मिक उन्नति की थी; परन्तु थे तो मनुष्य ही। जिस काम को एक मनुष्य ने किया उसका दावा दूसरा मनुष्य भी कर सकता है। नये धर्म्म प्रवर्त्तक खड़े हो सकते हैं। इस बात को सिद्धान्ततः अस्वीकार नही किया जा सकता था। इन दोनों समुदायों में यह मान्यता है कि गौतम और महावीर की भाँति दूसरे मनुष्य आगे भी होंगे तो परन्तु आज से कई लाख वर्ष बाद। तब तक इन महापुरुषों के उपदेश ही पथप्रदर्शक रहेंगे। ऐसे सम्प्रदायों मे जिनका कोई ज्ञात प्रवर्त्तक हो उसके व्यक्तित्व का महत्त्व होता ही है। बौद्ध और जैन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करते परन्तु उनके यहाँ बुद्ध और महावीर के प्रति उतनी ही श्रद्धा दिखलायी जाती है जितनी कि अन्य लोग ईश्वर के प्रति रखते है। आदर के अतिरेक से प्रतीक स्वरूप इनकी मूर्तियाँ भी बनने लगीं। मध्य एशिया में उस समय ग्रीक लोग बस गये थे। उनमे अपने देव-देवियो की प्रतिमा बनाने का चलन था। इसका प्रभाव भारत पर पड़ना अनिवार्य था। बुद्ध की जो सबसे प्राचीन मूर्तियाँ मिलती हैं उनमें शरीर के अवयवों की आकृति नहीं है। केवल चरण या खड़ाऊँ है और सिर की ऊँचाई पर तेजः पुंज। धीरे-धीरे सारा शरीर बनने लगा। वैदिक उपासना में प्रतिमा का पहिले चलन नहीं था, पीछे से बौद्धों और जैनों का अनुसरण करके देव-देवियों की मूर्तियाँ भी बनने लगीं। इस मूर्ति कला

का भी गुप्त काल में बहुत विकास हुआ। मूर्तिकार अनेक भावों को मूर्ति में व्यक्त कर सकता था। इस प्रकार सौन्दर्य्यानुभूति को नया आधार मिला और देखने वालों को आध्यात्मिक तृप्ति का नया साधन।

तत्कालीन भारतीय नागरिक भाग्यशाली मनुष्य था। उसका राष्ट्रीय उन्नति के युग में जन्म हुआ था और राष्ट्र की उन्नति उसके निजी जीवन में प्रस्फुटित हो रही थी। उसको मनुष्य होने पर गर्व था :

मनुष्यः कुरुते यन्तु तन्न शक्यं सुरासुरैः,
। मार्कण्डेय पुराण ।

'मनुष्य जो कर सकते हैं, उसे देव और असुर नहीं कर सकते।'

तत्कालीन आर्य्य को अपने देश पर भी बड़ा अभिमान था। विष्णु पुराण का एक श्लोक कहता है :

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे,

स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

'स्वर्ग में बैठे देवगण यह गीत गाते हैं कि जब पुण्य के क्षीण होने पर हमको पुनः मर्त्यलोक में जाना पड़ेगा तो हम में से जिन लोगों को स्वर्ग और मोक्ष के द्वारभूत भारत में पुनः मनुष्य देह मिलेगा वह धन्य होंगे।'

देश पर गर्व था और गर्व के साथ प्रेम था। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के यह मंत्र देखने योग्य है। यह सूक्त अथर्ववेद के द्वादश काण्ड के प्रथम अनुवाक का पहिला सूक्त है।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवां अश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥ ।५।

'जिस पृथिवी में हमारे प्राचीन पूर्वजनो ने अनेक काम किये हैं, जिसमें देवों ने असुरों से युद्ध किया था, जिसमें गऊ, अश्व और पक्षी रहते हैं, वह पृथिवी हमको धन और तेज दे।'

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥७॥

'जिस सब कुछ देने वाली भूमि की प्रमादरहित होकर देवगण निरन्तर रक्षा करते हैं वह हमको मधुर और प्रिय पदार्थ दे और तेज प्रदान करे।'

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवी महम्॥११॥

'हे पृथिवी, तुम्हारे छोटे-बड़े और हिमाच्छादित पहाड़, तुम्हारे जंगल हमारे लिए सुखकर हों। मैं इस इन्द्र द्वारा रक्षित भूरी, काली, लाल, अनेक रंगोंवाली पृथिवी पर अजित, अहत और अक्षत होकर अधिष्ठित रहूँ।'

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥६३॥

'हे मातः, भूमि, कल्याणकारिणी सुप्रतिष्ठा मुझमें स्थापित करो। हे कवि, मुझे स्वर्ग प्राप्त कराओ तथा लक्ष्मी और विभूति मुझे प्रदान करो।'

आजकल देश की भावनात्मक एकता पर बहुत जोर दिया जाता है। यह जोर देना सर्वथा उचित है। यह एकता पुराने भारत में बहुत कुछ विद्यमान थी। जिन दिनों बड़े साम्राज्य नहीं होते थे और देश राजनीतिक दृष्टि से

छिन्न-भिन्न देख पड़ता था उन दिनों भी उसकी भावात्मक एकता बनी रहती थी। साहित्य समाज का दर्पण होता है। संस्कृत साहित्य इस बात का साक्षी है कि भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक भारतीयों को अपने देश के प्रति अनन्यता थी। यह देश हमारा हैं, हम इसके हैं, इसके ही हैं और यही हमारा है, यह भाव बना रहता था। कथासरित्सागर प्रसिद्ध कहानी-संग्रह है। उसमें एक प्रदेश वाले का दूसरे प्रदेश में जाना, पढ़ना, बस जाना, विवाह करना कितनी स्वाभाविक बात दिखलायी गयी है। कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती का स्वयंबर दिखलाया है। उसमें भारत के कोने-कोने से राजा लोग आये हैं परन्तु भारत के बाहर का कोई नहीं। सारे देश में फैले हुए तीर्थ स्थान, पवित्र पर्वत, नदी, नगर, महात्माओ के आश्रम, सबको खींचते थे और एकता का भाव उत्पन्न करते थे। संस्कृत भाषा एकता फैलाने का बहुत बड़ा साधन थी। संस्कृत के मंच पर सभी प्रदेशों के विद्वान् मिल सकते थे और संस्कृत के वाङ्मय भंडार को सभी ने भरा है।

बौद्ध और जैन सम्प्रदायों ने धार्मिक अखण्डता को तो कुछ क्षति पहुँचायी, फिर भी एकता का दुर्ग हिला नहीं। वह लोग भी इसी देश के निवासी थे, उनके भी वही पूर्वज थे, वही आचार थे। संयोजक शक्तियां वियोजक तत्वों से अधिक बलवती थीं।

भारत का नागरिक इस वातावरण में पला था, इसने उसकी बुद्धि को निश्चय ही विशेष साँचे में ढाला था। गुप्त साम्राज्य के टूटने के बाद स्थिति बदली। हर्ष का साम्राज्य एक पीढ़ी में ही नष्ट हो गया। भारतीय को वह गर्वानुभूति फिर न हो सकी जो बड़े राज्य के नागरिक होने से प्राप्त होती है। छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़ने में रत थे। आर्थिक स्थिति भी गिर गयी, सुरक्षा की भावना भी जाती रही, देश के एक सिरे से दूसरे तक पर्य्यटन करना भी पहिले जैसा सुकर नहीं रह गया। भारतवासी का 'स्व' संकुचित हो गया।

वेद सम्मत धर्म्म पर उस काल की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। मौर्य्यकाल में बौद्ध धर्म्म को राजाश्रय मिला। स्थान-स्थान पर भिक्षुओं के लिए विहार स्थापित हुए, राज के साधनों से

तथागत के उपदेशों का प्रचार हुआ, विद्वान् और साधु इसे भारत के बाहर ले गये। अगत्या वेदों का पठन पाठन बहुत कम हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वेदार्थ भी विस्मृत हो गया। जिन रहस्यों का वेद में परोक्ष रूप से समाधि भाषा में वर्णन था उनके जानने वाले न रहे। वेद की कुंजी ऐसी खोयी कि आज तक नही मिली। वैदिक यज्ञों में कई ऐसे थे जिनमें पशु आलभन, पशु की हिंसा होती थी। वह तो बंद हो ही गये, उनके साथ दूसरे यज्ञयाग भी उठ गये। पुष्यमित्र ने अश्वमेघ किया, द्वितीय चन्द्रगुप्त ने भी अश्वमेघ किया पर इन सम्राटों का प्रयास भी यज्ञों को न लौटा सका। साधारण अग्निहोत्र और दर्श-पौर्णमास जैसे नित्य यज्ञों का भी लोप-सा हो गया। एक और बात थी। यज्ञों में केवल द्विजों को अधिकार था परन्तु बुद्धदेव का यह उपदेश था कि आध्यात्मिक बातों में मनुष्य मात्र को समान रूप से अधिकार है। इससे भी वैदिक कर्म्मकाण्ड के प्रति अश्रद्धा हो गयी। जिस काम का आरम्भ बौद्ध धर्म्म ने किया था उसकी पूर्ति जैन धर्म्म ने की।

मौर्य्य काल के बाद शासन फिर ऐसे लोगों के हाथ में आया जो वैदिक धर्म्म के समर्थक थे परन्तु गंगा के बहाव की दिशा को वह नहीं उलट सके। बौद्ध धर्म्म देश से चला गया परन्तु समाज पर स्थायी और गहरा प्रभाव छोड़ गया। वैदिक यज्ञयागों का लौटा लाना किसी के सामर्थ्य की बात नहीं रह गयी। बुद्ध देव वैदिकों में भी पूजास्पद बन गये और जैनियों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भी बन्दनीय मान लिये गये। आध्यात्मिक जीवन का केन्द्र श्रुति-विहित कर्म्म से हट गया।

द्वितीय खण्ड

पौराणिक काल

सातवाँ अध्याय

पुराण

पुराण का नाम आते ही विवाद में पड़ जाने की आशंका उठ खड़ी होती है। एक ओर ऐसे लोग हैं जो श्रुतिंस्मृतिपुराण की दुहाई देकर यह सूचित करते हैं कि उनकी दृष्टि में पुराण भी धर्म्म के विषय में प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, दूसरी ओर वह लोग हैं जिनकी दृष्टि में पुराणों की गणना प्रमाण ग्रन्थों में नहीं की जा सकती। मैं इस शास्त्रार्थ में भाग नहीं लेना चाहता। धर्म्म संबन्धी प्रामाणिकता मेरा विषय भी नहीं है।

पुराण प्रमाण ग्रन्थ हों या न हों परन्तु उनके महत्त्व को तो स्वीकार करना ही होगा। ऐसा कहा जाता है कि :

इतिहासपुराणाभ्यां, वेदार्थमुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो, मामयं प्रतरिष्यति॥

'इतिहास पुराण के द्वारा वेदार्थ का उपबृंहण करना चाहिए, व्याख्या करनी चाहिए। जो अल्पश्रुत हैं, जिसने थोड़ा-सा वेद मात्र पढ़ा है, उससे वेद डरता है कि यह मनुष्य मेरी प्रतारणा करेगा, अपमान करेगा।'

रामायण और महाभारत को इतिहास कहते हैं। पुराणों की संख्या ३६ है, १८ महापुराण, १८ उपपुराण। महापुराणों के नाम इस श्लोक से निकल आते हैं :

भद्वयं मद्वयं चैव, ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापल्लिगकूस्कानि, पुराणानीति कथ्यते॥

भद्वय—भागवत और भविष्य
मद्वय—मत्स्य और मार्कण्डेय
ब्रत्रयं—ब्रह्म, ब्रह्माण्ड और ब्रह्मवैवर्त्त
व चतुष्टय—वायु, विष्णु, वामन और वाराह
अ—अग्नि
ना—नारद
पत्—पद्म
लि—लिंग
ग—गरुड़
कू—कूर्म्म
स्क—स्कन्द

भागवत नाम के दो ग्रंथ हैं—श्रीमद्भागवत और देवी भागवत। विद्वानों मे इस बात पर मतभेद है कि इनमें महापुराण कौन है। मैं स्वयं देवीभागवत को महापुराण मानता हूँ।

कही-कहीं स्वयं पुराणों ने अपने महत्त्व को बहुत बढ़ा चढ़ाकर बताया है।

पुराणं सर्वशास्त्राणां, प्रथमं ब्रह्मणास्मृतम्।
अनंतरं च वक्त्रेभ्यो, वेदास्तस्य विनिःसृताः॥

'ब्रह्मा ने सब शास्त्रों से पहिले पुराण का स्मरण किया। इसके पीछे उनके मुखो से वेद निकले।

यह निरर्थक अतिशयोक्ति है। वेद को हिन्दुओं के सभी सम्प्रदाय स्वतः-प्रमाण तथा ईश्वरकृत मानते हैं। वेद ईश्वर का निःश्वास कहा जाता है। पुराण भी वेद की महत्ता को स्वीकार करते हैं। ऐसी दशा में यह कहना कि

पुराण वेद के भी पहिले प्रकट हुए निराधार वाक्य है। परन्तु ऐसे बहुत से स्थल मिलेंगे जहाँ वेद के नाम की शपथ खाते हुए पुराण वेद के प्रति निरादर का भाव दिखलाते हैं।

पुराणों के ऐतिहासिक भागों को, जिनमें सूर्य्य, चन्द्र वंशों के राजाओं के चरित दिये हुए हैं, छोड़ दिया जाय तो उनको वेदों की टीका कह सकते हैं। वेद में बहुत सी बातें संकेत में या रहस्यमयी भाषा में कही गयी हैं। उनको अशिक्षित लोगों तक पहुँचाने का प्रयास पुराणों में किया गया है। वेद की इस प्रतिज्ञा की पूर्ति कि '**इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः**' पुराणों ने अपना ध्येय रखा और उनको इसमें सफलता भी मिली। दर्शन, योग और धर्म्म शास्त्र के जटिल तत्वों को पुरणों ने कोने-कोने में फैलाया। वर्णों और आश्रमों के धर्म्म, पुरुषों और स्त्रियों के धर्म्म, राजधर्म, इन सब की जानकारी सरल भाषा में जनता को करायी गयी। इसके साथ ही ज्योतिष और व्याकरण जैसे विषयों पर भी प्रकाश डाला गया, विकास और संकोच, सृष्टि और प्रलय, हिरण्यगर्भ और विराट्, के स्वरूप का ज्ञान कराया गया।

वेद में कई विद्याओं का उल्लेख है। उपनिषदों में भी इनका चर्चा हुआ है। इनमें से कइयों का विशदीकरण पुराणों में किया गया है। परन्तु कुछ बातें तो किसी पुस्तक में खोलकर नहीं दी जातीं, गुरुमुख से ही प्राप्त की जाती हैं। उनके विषय में तो पुराणों को भी चुप रहना ही पड़ा है।

वेदों मे कई व्यक्तियों के नाम आते हैं पर उनके सम्बन्ध में कुछ और बातें नहीं मिलतीं। विश्वामित्र, शुनःशेप, पुरूरवा, सुदास कौन थे? पुराणों ने इनकी कथाएँ, इनके जीवन के इतिवृत्त, दिये हैं। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि यह सब कहानियां गढ़ी हुई हैं। आर्य्य जाति का सहस्रों वर्षों का इतिहास कहाँ है? किसी पुस्तक में तो लिखा मिलता नहीं। यदि कुछ विद्वानों की यह बात मान ली जाय कि वेद में रूढ़ि शब्द हैं ही नहीं और व्यक्तियों के नाम आये ही नहीं हैं तब तो और भी अन्धकार छा जाता है। पुस्तक हो या न हो, परन्तु निश्चय ही पुराने इतिहास की अनुश्रुतियां रही होंगी। विकृत ही सही, परन्तु लोग किसी न किसी रूप में पुरा काल की बातों को घर के बड़े बूढ़ों के

मुंह से सुनते आये होंगे। पुराणों ने वही कथाएँ लिपिबद्ध कर दी हैं। इन कथाओं को शुद्ध इतिहास भले ही न कहा जाय परन्तु हमारे सहस्रों वर्षों के इतिहास की थोड़ी झलक जो कुछ मिलती है वह यहीं मिलती है। वेद में जो लोग कागज़ पर खिची हुई कुछ रेखाएँ हैं वे पुराणों के पृष्ठों में जीते जागते मनुष्य बन जाते हैं। उनकी बातों में अभिरुचि भी बढ़ जाती हैं। वेद मंत्रों के पीछे सहस्रों वर्षों का इतिहास आ खड़ा होता है। ईश्वर की वाणी मुर्दों के लिए नहीं वरन् जीवित मनुष्यों के लिए मुखरित हो उठती है। इसी को तो वेदार्थ का उपबृंहण कहते हैं।

पुराणों में कुछ घटनाओं का भी वर्णन है। वंश और वंशानुचरित उनका एक मुख्य अंग है। परन्तु उनको सामान्य इतिहास ग्रंथों में नहीं गिना जा सकता। उनका अपना विशेष दृष्टिकोण है, उसी से घटना चक्र का निरूपण किया जाता है। आजकल समाजवादी लेखक जब इतिहास लिखने बैठते हैं तो उनके सामने समाजवाद का वह सिद्धान्त रहता है जिसे ऐतिहासिक अनात्मवाद कहते हैं। वह घटनाओं को उसी कसौटी पर कसते हैं। उनके लिए सिद्धान्त का सर्वोपरि महत्त्व है, घटना क्रम निदर्शन मात्र है। इसी प्रकार पुराणों का भी अपना सिद्धान्त है। उनकी मान्यता है कि विश्व में धर्म्म और अधर्म्म का निरन्तर संघर्ष होता रहता है। कभी वह संघर्ष देवासुर संग्राम के रूप में सामने आता है, कभी मनुष्यों मे राष्ट्रों और राज्यों के युद्ध का बाना पहिनकर, कभी व्यक्तियों के जीवन का उथल-पुथल बनकर। अधर्म्म एक बार धर्म्म को दबा लेता है परन्तु अन्त में विजय धर्म्म की ही होती है। **यतो धर्म्मस्ततो जयः**—पुराणों के लिए इतिहास का, इतिहास के पात्रों का, इतना ही महत्त्व है कि उनके चरित इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। इसीलिए पुराण बहुत ब्यौरे में नहीं जाते। फिर भी उनमें बहुत ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है। उनसे इतिहास और भूगोल के अध्ययन में बहुत सहायता मिलती है।

पुराणों ने समाज का बहुत कल्याण किया है। स्थान-स्थान पर पुराण पाठ होता था और लोगों को अध्यात्म, दर्शन, धर्म्म की शिक्षा मिलती थी, सैंकड़ों पीढ़ियों के पूर्वजों की कीर्ति की स्मृति हरी हो जाती थी, सारे देश के साथ भावात्मक एकता की कड़ियाँ फिर से पुष्ट हो जाती थीं। हम इसके लिए ऋणी

हैं, कृतज्ञ हैं। परन्तु पुराणों ने बहुत-सा अनर्थ और अहित भी किया है, उसको भी भुलाया नहीं जा सकता।

पुराणों के कर्त्ता वेद व्यास माने जाते हैं परन्तु उपलब्ध पुस्तकों को देखकर ऐसा मानना कठिन हो जाता है कि इन सबका रचयिता एक ही व्यक्ति था। सम्भव है व्यास देव ने अपने शिष्य सूत जी को पुराण विषयक कुछ शिक्षा दी हो। कहा जाता है कि सूत जी पुराणों की कथा नैमिषारण्य में एकत्रित साधु-महात्माओं को सुनाया करते थे। श्रोताओं में से कुछ लोगों ने स्वतंत्र पुस्तकें लिखी हों जिनका आधार सूत जी से मिला हो। जो कुछ भी हो, सब पुराणों का रचयिता एक व्यक्ति को मानना सम्भव नहीं प्रतीत होता। यदि कई पुराण होते तब भी कोई विशेष हानि न होती। एक विषय की कई पुस्तकें होती ही हैं। यदि उनमें उपासना के लिए पृथक देवों का विशेष चर्चा होता तो भी कोई हानि न होती। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कम-से-कम **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** की घोषणा करने वाला वैदिक धर्म्म तो ऐसा मानता ही है कि–

> **रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ।**
> **नृणामेकोगम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।। महिम्न स्तोत्र ।**

जिस प्रकार सीधे टेढ़े बहने वाली सब नदियाँ समुद्र में पहुँचती हैं उसी प्रकार रुचिभेद से अनेक प्रकार से उपासना करनेवाले सब आपको ही पहुँचते हैं।

क्या कहा जाता है उससे बढ़कर महत्त्व इस बात का होता है कि उसे किस प्रकार कहा जाता है। वेदों में पृथक् देवताओं को उद्दिष्ट करके मंत्र हैं परन्तु पार्थक्य भावना कभी बलवती न हो पायी। पुराणकार ऐसा न कर सके। पृथकता का भाव प्रबल हो गया। यहाँ तक कि विभिन्न देवों के उपासकों में लड़ाइयाँ हो गयीं, एक का मन्दिर दूसरे के लिए त्याज्य हो गया। पुराण युग में एक भी ऐसा ग्रंथ नहीं रहा जिसको मानना सब के लिए अनिवार्य्य हो, एक भी ऐसा देव नहीं रहा जिसके सामने सब का सिर झुकता हो। इसका परिणाम उस समय देख पड़ा जब मुसलमानों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। एक ओर एक कुरान के झंडे के नीचे खड़ी सेना, दूसरी ओर भीड़, जिसमें सब का उपास्य अलग, सब का धर्म्म ग्रंथ अलग।

आरम्भ में पुराण ग्रंथ किसी ने लिखे हों, परन्तु पीछे से कोई रोकथाम रही ही नही। जिसके जी में जो आया लिख गया। अश्लील कथाओं तक को स्थान मिल गया। उच्चस्थानीय देवों से ऐसे-ऐसे काम कराये गये जिनका नाम लेते हुए सामान्य गृहस्थ भी लज्जित होगा। मैं आगे चलकर इसके कुछ उदाहरण दूंगा। महापुरुषों के जीवन से शिक्षा मिलनी चाहिए परन्तु ऐसे लोगों के जीवन से कोई क्या शिक्षा ग्रहण करे जो स्वार्थसिद्धि के लिए नीच से नीच काम पर उतर आते हैं?

मेरी समझ में पुराणों ने जो सबसे बुरा काम किया वह वेदों को अपदस्थ करना था। वेद का नाम लेते गये पर उसकी जड़ खोदते गये। जैसा कि पहिले दिखलाया जा चुका है, बौद्धकाल के पीछे वैदिक यज्ञयागों का चलन बहुत कम हो गया था। पुराणों ने उसे और कम कर दिया। यह नहीं कहा कि यज्ञादि करना अधर्म्म है। उनका आदेश यह था कि एक तो इन कृत्यों का विधान कलियुग के लिए है ही नहीं, दूसरे यह अनावश्यक हैं। उपनिषदों में भी कहा गया है कि प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः—यज्ञ का परिणाम अदृढ़ है, उससे मोक्ष नहीं मिलता। पर इसके साथ ही उन्होंने यज्ञयाग को चित्तशुद्धि के लिए उपयोगी बतलाया। पुराणों में उनकी अनुपयोगिता का घोष कर दिया गया। इसके साथ ही वेद के दुर्ग पर इससे भी भयानक आक्रमण किया गया। वैदिक देवों को हँसी और घृणा का पात्र बना दिया गया। कितनो के तो नाम भी भुला दिये गये, प्रायः सब की ही मर्य्यादा मिट्टी में मिला दी गयी। प्रायः सब छोटे बना दिये गये। यदि अखाड़े में किसी बड़े पहलवान को कुश्ती में चित कर दिया जाय तो उसके सभी चेलों की स्वतः हार हो जाती है। इसी को प्रधान मल्लनिवर्हण न्याय कहते हैं। इस बात को सामने रखकर देवराज इन्द्र पर प्रहार किये गये। यह समझा गया और समझना ठीक भी था कि यदि उनको गिरा दिया गया तो अन्य देवों का आप ही पतन हो जायगा। वेद में देवराज किस दृष्टि से देखे जाते थे यह हम देख आये हैं। देवराज वह अब भी कहे जाते थे पर उनका चरित्र बड़े ही निम्न कोटि का बताया गया—अज्ञानी, कामी, द्रोही, ईर्ष्यालु। दूसरे का उत्कर्ष उनके लिए असह्य है। भोगो में निरन्तर रत रहते हैं, किसी को तप और पुण्य करते देख कर जलते रहते है। जब इन्द्र की यह दशा है तो और देवों की क्या गति होगी? और बातों मे पुराणों में चाहे मतभेद

हों परन्तु वैदिक देवों, विशेषतः इन्द्र, की निंदा करने में सब एक हैं।

इस सामूहिक अभियान का अभीप्सित फल मिला। देवों पर से श्रद्धा उठ गयी। पुरा काल में जो बात न हो सकी थी वह कर डाली गयी। किसी समय इन्द्र को न मानने वाले, अनिन्द्र कहे जाने वाले, आर्य्यों के देश से ही पृथक् कर दिये गये। इन्द्र की श्रेष्ठता को न मानने वाले के लिए वेदानुयाइयों में कोई स्थान नहीं था। अब वेद के नाम लेने वालों ने ही इन्द्र की मर्य्यादा को धूलि-धूसरित कर दिया। और परिणाम क्या निकला? इन्द्र तो अपदस्थ कर दिये गये पर उनकी जगह रिक्त रह गयी, कोई दूसरा उस जगह पर नहीं बैठाया जा सका। विष्णु या शिव किसी को भी वह एकच्छत्र, असपत्न प्राधान्य न मिल सका। देव परिवार नेतृविहीन हो गया।

यज्ञयाग गये, वैदिक देव गये, फिर वेद किस सहारे टिक सकता था? वेद का पठन पाठन बहुत कम हो गया, उसके गूढ़ार्थ को समझने का प्रयास व्यर्थ प्रतीत होने लगा। वेद और इन्द्र के व्यक्तित्व ने आर्य्यों को एक सूत्र में बाँध रखा था। अब वह सूत्र कट गया। अब किसी के लिए विष्णु सर्वश्रेष्ठ हैं, किसी के लिए शिव, किसी के लिए गणेश, किसी के लिए हनुमान। कोई श्रीमद्भागवत को परम प्रमाण-ग्रंथ मानता है, कोई भगवद्गीता को, कोई दुर्गासप्तशती को। लाखों मनुष्यों के लिए तो तुलसीकृत रामायण ही वेद है।

एक में बाँधनेवाले तत्त्व के अभाव में समाज में धार्म्मिक अराजकता छा गयी और व्यवस्था की जगह कुव्यवस्था और अव्यवस्था ने ले ली। बहुत से स्थानीय देव-देवी निकल आये जिनकी पूजा संकुचित क्षेत्रों में होती थी। बाहर कोई नाम भी नहीं जानता था। नये नये व्रत और उत्सव मनाये जाने लगे। जो पुराने और सर्वमान्य व्रतोत्सव आदि थे उनके मनाने की विधियाँ विभिन्न सम्प्रदायों ने अपनी-अपनी अलग निकाल लीं। इस सब का परिणाम यह हुआ कि एकता का बन्धन ढीला होता चला गया।

प्रत्येक बात के लिए पुराणकारों को दोष देना भी उचित न होगा। कमल

का पत्ता जल से निर्लिप्त रह सकता है परन्तु साहित्यकार पर्य्यावरण से प्रभावित हुए बिना बच नहीं सकता, उस पर देश काल की छाप पड़ती ही है। जो पुराण गुप्त काल के अभ्युदय के समय लिखे गये उनमें ओज है। परन्तु सारे पुराण एक साथ नहीं लिखे गये। फिर जो लिखे गये भी उनके कई संस्करण हुए। पीछे के संस्करण कुछ दूसरी ही भाषा बोलते हैं। गुप्त साम्राज्य का कीर्तिभानु ढल गया था, कई स्वतंत्र छोटे राज्य बन चुके थे। एक बार हर्षवर्धन ने देश के गौरव को फिर उठाया पर उनकी मृत्यु के साथ ही उनके साम्राज्य के भी टुकड़े हो गये। दक्षिण भारत का भी कोई प्रदेश देश की इस अधोगति से न बच सका। हर छोटा-बड़ा नरेश महाराजाधिराज था, छोटा से छोटा राज्य देश के बढ़ते विभाजन को दृढ करता जा रहा था। चारों ओर आपसी कलह और ईर्ष्या का बोलवाला था, अपनी गरिमा की धुन सबको थी, भारत की चिन्ता किसी को भी नही थी। आर्य्यत्व का, आर्य्य समाज का, पुराना दुर्ग ध्वस्त हो रहा था। यह परिस्थिति विदेशियों के नाम खुला निमंत्रण पत्र थी। उनको निमित्त मात्र बनना था, देश अपने पतन की सामग्री स्वतः प्रस्तुत कर चुका था।

ऐसी परिस्थिति में जो पुराण ग्रन्थ लिखे गये या जिनके संस्करण किये गये उनसे क्या आशा की जा सकती थी ? वह भी विभाजन और पार्थक्य के प्रवाह में बह गये। सम्भवतः अपनी शुद्धि के लिए आर्य्य जाति को एक बार दासता, पराभव, आत्मग्लानि की अग्नि में तपना ही था। इसको कोई रोक नहीं सकता था। फिर भी पुराणकारों को तो अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिए था। उनको तो इस चतुर्दिक् व्यापी अन्धकार में धर्म्म के आकाशदीप को उठाये रखना था। वही एक विन्दु था जहाँ सब मिल सकते थे। परन्तु पुराणकारों ने उसके अस्तित्व को न ढूँढा, न पहिचाना। विभिन्न देवों का राग अलापनेवाले पुराण सबको एक सूत्र में नहीं बाँध सकते थे। यह काम वेद ही कर सकता था। पर वैदिक देवों की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिलाने के बाद उनको, वेदों को, एकता का केन्द्र नहीं बनाया जा सकता था। पुराणकारों ने यह समझा ही नहीं कि आर्य्य जनता को बाँधकर रखने का उनका दायित्व है। उनकी धार्म्मिक अराजकता ने गिरते समाज को और नीचे लुढ़का दिया।

आठवाँ अध्याय

देव परिवार में भारी परिवर्तन

जिस परिस्थिति का थोड़ा-सा उल्लेख छठें अध्याय में हुआ है, उसमें वैदिक धर्म्म फिर हमारे सामने आया। वह पूर्णतया तो कभी भी लुप्त नहीं हुआ था, अन्यथा पुनः स्थापित होता ही कैसे? कई शताब्दियों के पीछे वह फिर राजधर्म और लोकधर्म हुआ। उसके प्रतिस्पर्द्धियों में से बौद्धधर्म तो प्रायः देश से ही चला गया। जैन धर्म्म कभी भी उतना व्यापक नहीं हुआ था, अब और भी पीछे हट गया।

वैदिक धर्म्म अपने पुराने स्थान पर आया तो, पर उसको अपना चोला बदलना पड़ा, पुराना रूप अब यथावत् नहीं लौटाया जा सकता था। वेद अब भी स्वतः और अन्तिम प्रमाण रहा। जो वेदसम्मत था वह सर्वथा मान्य है, जो वेद विरुद्ध है वह अमान्य है, ऐसी धारणा अब भी थी। प्रत्यक्ष नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक उपासना शैली, प्रत्येक सामाजिक रीति तक, वेद का ही समर्थन ढूंढ़ती थी। परन्तु जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूं, वेद का पठन पाठन कम हो गया, उसका अर्थ भूल-सा गया, वैदिक यज्ञयागों का चलन उठ गया। इसके कई परिणाम हुए। एक तो देव और देवता का भेद तिरोहित-सा हो गया। देवताओं की ओर से ध्यान हट गया क्योंकि उनका तो वेद मंत्रों के साथ मुख्य सम्बन्ध था। अग्नि हुतभुक् और हव्यवाहन थे। उनके द्वारा ही अन्य देवों का आह्वान होता था। उनके ही द्वारा सभी देवताओं के पास हवि पहुँचायी जाती थी। देवताओं मे ऐन्द्री शक्ति सर्व प्रधान थी, इन्द्र वैदिक देवों में श्रेष्ठ हैं, उनसे ही देवों की श्रेष्ठता है। अब बदली हुई परिस्थिति में इन्द्र, वायु, अग्नि, अश्विद्वय, इन सब का स्थान नीचा हो गया। इन्द्र अब भी देवराज

कहलाते थे। परन्तु उनके राज्य की सीमाएँ सिमिट गयीं और जैसा कि हम आगे देखेंगे उनके पार्षदों में से कुछ लोग उनसे भी ऊँचे पद पर हो गये।

एक बात और हुई। यों तो देवता रूप से पराशक्ति पूज्य थी ही और इन्द्राणी आदि देवियों का भी चर्चा वेदों में आता था। परन्तु पृथक् रूप से देवियों को इस काल में विशेष महत्ता प्राप्त हुई। जितना नीचे देवों को गिराया गया उतना नीचे उनकी शक्तियाँ नहीं गिरीं। भले ही इन्द्रादि के चरित्र दूषित किये गये हों, परन्तु देवियों पर किसी ने अँगुली नहीं उठायी।

वैदिक कर्म्मकाण्ड के दब जाने का एक परिणाम और हुआ। मनुष्य अपने मस्तिष्क को रिक्त नहीं रख सकता। देवता नहीं, यज्ञ नहीं, पर कुछ तो होना ही चाहिए, किसी की किसी प्रकार तो उपासना होनी ही चाहिए। किसी का सहारा तो होना ही चाहिए, नहीं भीतर कुछ सूना-सूना सा लगता था। सामने बौद्धों और जैनों का उदाहरण था। जैनों के चौबीस तीर्थंकर थे, बौद्ध धर्म बुद्ध के अतिरिक्त मञ्जुश्री, वज्रपाणि, पद्मयोनि आदि कई बोधिसत्वों की गाथाएँ छोड़ गया था। अपने नूतन संस्करण में वैदिक धर्म्म ने भी इसी पद्धति का अनुगमन किया। उपास्य आगे बढ़े। वैदिक काल में उनकी आकृतियाँ अस्पष्ट थीं, अब उनमें स्पष्टता आयी। उनके साथ जो सम्बन्ध था उसमें अधिक अपनापन आया, वह मानव जीवन के अधिक निकट आ गये। पहिले आदर की मात्रा अधिक थी, अब आदर के साथ स्नेह भी बढ़ा।

जैसा कि हम तीसरे अध्याय में संकेत कर चुके हैं, कुछ देवगण तो देव शरीर से ही मुक्त हो जाते है, शेष को पुनः मनुष्य शरीर धारण करना पड़ता है। उपनिषद् के शब्दों मे, **क्षीणपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**—पुण्यके क्षीण होने पर मर्त्यलोक मे प्रवेश करते हैं। एक देव हटता है, उसका स्थान कोई-न-कोई दूसरा महायोगी लेता ही है। परन्तु पौराणिक काल में इस सैद्धान्तिक तथ्य की भी दुर्गति कर दी गयी। इन्द्रादि का पद तो गिरा ही दिया गया, उनके चरित्रों का भी पतन करा दिया गया। वैदिक देवों का चित्रण लोभी, लम्पट, पदलोलुप रूप में किया गया। पुराणों को देखने से यही प्रतीत होगा कि साधारण मनुष्य का चरित्र भी देवों के चरित्र से ऊँचा है। यही दिखलाया गया है कि देवगण डरते

रहते हैं कि कहीं कोई दूसरा मनुष्य तप के बल से हमारा पद छीन न ले। इसलिए बराबर अच्छे लोगों को तपोभ्रष्ट करने का प्रयत्न किया करते हैं। वेद में जो इतने ऊँचे हैं उनको पुराणों में इतना नीचे गिरा दिया गया है कि वह इस योग्य भी नहीं रहे कि उनके सामने सिर झुकाया जाय।

जो ऊँचे थे वह नीचे गिराये गये। यज्ञों के साथ, वेदों के साथ, घनिष्ठ सम्बन्ध होने का उनको यह दंड मिलना ही था। परन्तु उनका रिक्त स्थान किसी न किसी को तो मिलना ही था। यह स्थान ब्रह्मा, विष्णु और शिव को मिला। इन्द्र देवराज बने रहे परन्तु यह तीनों उनसे बड़े मान लिये गये।

इन तीनों देवों का आध्यात्मिक आकाश में उदय होना हमारे बौद्धिक इतिहास की विचित्र कहानी है। यह स्पष्ट है कि वेद इनके उत्कर्ष का समर्थन नहीं करते परन्तु ऐसे करोड़ों व्यक्ति हैं, जिनमें विद्वान् और वेदों के पढ़ने-पढ़ाने वाले भी हैं, जो वेदों को भी मानते हैं और त्रिदेव के ऊँचे पद के भी समर्थक हैं। हमारे धर्म्म की यही विशेषता है। कोई पुरानी बात स्पष्टतया कह कर काटी नहीं जाती पर धीरे से नयी बात उसकी जगह ले लेती है। सिद्धान्ततः पुरानी बात की पवित्रता और प्रामाणिकता अक्षुण्ण रहती है, व्यवहार में नयी बात को वह स्थान मिल जाता है। छोटे-मोटे हवन होते ही रहते हैं। उनमें जो व्यक्ति इन्द्र नाम को सर्वोच्च पद देता है वही बिना हिचक के पुराण सुनते समय इन्द्र के लालची और दुराचारी होने की कथा पर भी विश्वास कर लेता है।

प्राचीन काल से ही आर्य्यों में त्रिदेव का सिद्धान्त माना हुआ था। हम देख आये हैं कि आदि पुरुष परमात्मा ने अपने को अग्नि, वायु, और आदित्य इन तीन रूपों में अभिव्यक्त किया। तीनों वेद ऋक्, यजुः, और साम इन तीन देवों के प्रतीक हैं। इन नामों के पीछे एक गम्भीर विचारधारा थी जो समस्त वेद में संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में, अनुस्यूत है। उसी तागे पर सारा वैदिक कर्म्मकाण्ड पिरोया हुआ है। यज्ञ गये, कर्म्मकाण्ड गया, वैदिक दर्शन गया, वैदिक देवताओं के नाम गये, वैदिक त्रिदेव परित्यक्त हो गये। परन्तु परम्परा बनी रही, परमात्मा त्रिदेव रूप से व्यक्त होता है, यह स्मृति बनी रही। अग्नि, वायु और आदित्य के सूने सिंहासनों पर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आसीन

कर दिये गये। यह नहीं समझना चाहिए कि यह वही तीनों देव हैं, केवल नाम दूसरे हैं; त्रिदेव की नई धारणा वैदिक मान्यता से नितान्त भिन्न है।

अग्नि, वायु और आदित्य मर्त्यलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक में परमात्मा के रूप हैं और उनकी शक्तियाँ पराशक्ति की ही भेद है। अपने-अपने क्षेत्र के समस्त जड़-चेतन व्यापार का अधिष्ठातृत्व इनको प्राप्त है। यों कह सकते हैं कि इन तीन स्तरों पर परमात्मा की जो कला प्रकट होती है, परमात्मा की जो अभिव्यक्ति होती है, उसको अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की वह बात नही है। इनके काम बँटे हुए है। यों कह सकते हैं कि यदि अकेले मर्त्यलोक को ही ले तो वैदिक विचारधारा के अनुसार जो काम अकेले अग्नि और आग्नेयी शक्ति के द्वारा सम्पन्न होता था उसको अब ब्रह्मा और ब्राह्मी शक्ति, विष्णु और वैष्णवी शक्ति तथा रुद्र और रौद्री शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यही बात अन्तरिक्ष और द्युलोक के लिए भी है। यह ठीक है कि विष्णु की गणना आदित्यों में होती है और अग्नि तथा रुद्र का तादात्म्य माना जाता है, परन्तु त्रिदेव की दोनो कल्पनाओं में बहुत भेद है।

त्रिदेव की उत्पत्ति का रोचक वर्णन कुछ पुराण ग्रन्थों में मिलता है :

सर्वस्याद्या महालक्ष्मीस्त्रिगुणा परमेश्वरी
लक्ष्यालक्ष्यस्वरूपा सा व्याप्य कृत्स्नं व्यवस्थिता ॥

शून्यं तदखिलं स्वेन पूरयामास तेजसा।
बभार परमं रूपं तमसा केवलेन हि ॥

. . . महालक्ष्मी : स्वरूपमपरं।
सत्त्वाख्येनाति शुद्धेन गुणेनेन्दुप्रभं दधौ ॥

अथोवाच महालक्ष्मीर्महाकालीं सरस्वतीम्।
युवां जनयतां देव्यौ मिथुने स्वानुरूपतः ॥

इत्युक्त्वा ते महालक्ष्मीः ससर्ज मिथुनं स्वयम् ।
हिरण्यगर्भो रुचिरौ स्त्रीपुंसौ कमलासनौ ॥

महाकाली भारती च मिथुने सृजतः सह ।

. . . .

एवं युवतयः सद्यः पुरुषत्वं प्रपेदिरे ।

ब्रह्मणे प्रददौ पत्नीं महालक्ष्मीः (नृप) त्रयीम् ।
रुद्राय गौरीं प्रददौ वासुदेवाय च श्रियम् ॥

स्वरया सह संभूय विरिञ्चोऽण्डमजीजनत् ।

पुपोष पालयामास तल्लक्ष्म्या सह केशवः ।
सं जहार जगत्सर्वं सह गौर्या महेश्वरः ॥

'जगत् के आरम्भ में केवल त्रिगुणात्मिका परमेश्वरी महालक्ष्मी थीं। वह लक्ष्यां-लक्ष्य स्वरूपा हैं, सब में व्याप्त होकर स्थित थीं। अपने तेज से उन्होंने समस्त शून्य को परिपूरित कर रखा था। उन्होंने अपना केवल तमोगुणात्मक दूसरा परम रूप धारण किया। इस शरीर के नाम हैं महामाया, महाकाली, महामारी, कालरात्रि आदि। फिर महालक्ष्मी ने शुद्ध सत्त्वगुणात्मक दूसरा शरीर धारण किया। इस विग्रह के नाम हैं महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, वेदगर्भा आदि। तब महालक्ष्मी ने दोनों देवियों से कहा कि अपने शरीर से अपने-अपने अनुरूप एक एक मिथुन (जोड़ा) उत्पन्न कीजिए। यह कहकर उन्होंने अपने शरीर से स्त्री-पुरुष के एक जोड़े को जन्म दिया। पुरुष के नाम ब्रह्मा, विधि, विरिञ्च हैं और स्त्री के नाम श्री, पद्मा, कमला और लक्ष्मी। महाकाली ने भी मिथुन उत्पन्न किया। उसमें पुरुष के नाम नीलकण्ठ, चंद्रशेखर, रुद्र, शंकर, स्थाणु आदि हैं और स्त्री के त्रयी, विद्या, स्वरा, अक्षरा, आदि हैं। इसी प्रकार महासरस्वती ने भी मिथुन की सृष्टि की। उसमें पुरुष के नाम विष्णु, ऋषीकेश, वासुदेव, जनार्दन आदि हैं और स्त्री के उमा, गौरी, सती, चण्डी आदि। इस प्रकार तीनों युवतियाँ तत्काल पुरुषत्व

को प्राप्त हुईं। महालक्ष्मी ने ब्रह्मा को त्रयी, रुद्र को गौरी और वासुदेव को श्री पत्नी रूप में दिया। स्वरा के साथ मिलकर, ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड की रचना की, लक्ष्मी के साथ मिलकर केशव ने उसका पालन-पोषण किया और गौरी के साथ मिलकर रुद्र ने संहार किया।'

ऐसा कहा गया है कि इस रहस्य को सब लोग नही समझ सकते।

चक्षुष्मन्तो नु पश्यन्ति, नेतरेऽतद्विदो जनाः

'जो आंख वाले हैं वही इसे देख सकते हैं, दूसरे अज्ञानी लोग नहीं। स्पष्ट ही आँखवालों से तात्पर्य्य योगियों से है।'

लोक में एतद्विषयक जो प्रचलित कथा है वह तो इस प्रकार है कि नारायण की नाभि से कमल निकला। उस कमल के दलों पर ब्रह्मा आविर्भूत हुए। कालान्तर में उनके मस्तिष्क का भेदन कर के रुद्र प्रकट हुए। इनकी शक्तियों के प्रादुर्भाव का पृथक् वर्णन नहीं मिलता। ऐसा मानना चाहिए कि तत्तत् देव के साथ ही उसकी शक्ति या पत्नी भी प्रकट हुई।

प्रजापति, हिरण्यगर्भ और विश्वकर्मा नाम से ब्रह्मा वैदिक काल में भी धाता, विधाता, जगत् के कर्ता माने जाते थे। वही ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, वाक्पति, वेद के स्वामी, वेद के भंडार, वेद के आदि प्रवर्त्तक थे। उनको ऊँचा स्थान मिलना स्वाभाविक था। यज्ञ याग हों या न हों, जगत् तो था ही। प्रलय के बाद नये जगत् का निर्माण तो हुआ ही था और आगे भी होगा ही, नये जगत् के बनने पर पुराना, सनातन, वैदिक ज्ञान मनुष्यों तक पहुँचाना ही होगा। पुराणों में लिखा है कि इस कल्प के वशिष्ठ तप कर रहे हैं और अगले कल्प में ब्रह्मा होंगे। ब्रह्मा त्रिदेव में तो हैं परन्तु उनकी पूजा बहुत कम होती है। उनके नाम के साथ बस एक पुष्कर तीर्थ सम्बद्ध है। सम्भवतः लोक बुद्धि में यह बात आयी होगी कि जगत् के भावी स्वरूप की रूपरेखा का साक्षात् करने और भावी विश्व के परिचालन के लिए ऋत् और सत्य को जन्म देने के बाद ब्रह्मा का कोई काम नहीं रह गया। जगत् नियमों के और जीवों के कर्म्मों के अनुसार

आप ही विकसित होता आयगा और समय आने पर फिर संकुचित होता आयगा। इसलिए बीच में ब्रह्मा जी को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं है।

जब विश्व बन ही गया तो उसकी देखभाल भी होनी चाहिए, उसकी रक्षा भी होनी चाहिए। ऋत् और सत्य के नियम अटल हैं, कर्म्म की रेख अमिट है, पर बीच-बीच में ऐसे प्राणी आते हैं जो अपने बल के मद में सनातन नियमों को भी छेड़ते हैं। इस प्रकार बिगाड़े हुए सन्तुलन को फिर से स्थापित करना ही होगा। यह काम विष्णु का है। उनको यह काम सौंपा जाना वैदिक परम्परा के अनुसार था। उनको वेद में कई जगह 'गोपा' (रक्षक) कहा गया है। इस बात की ओर भी संकेत है कि वह धर्म्मों को सँभालते हैं, धारण करते हैं। विष्णु की प्रशंसा इन शब्दों में करके दिखलाया गया है कि वह तत्वतः हिरण्य-गर्भ ब्रह्मा से अभिन्न हैं। जो प्रजापति, प्रजा का जनक है, वही प्रजा का पालक भी है :

विष्णोर्नुकं वीर्य्याणि प्रवोचंयः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥
। १, १५४, १।

'मैं विष्णु के वीर्य्य (पराक्रम) का वर्णन करता हूँ। यह विष्णु वह हैं जिन्होंने पार्थिव लोकों की रचना की, जिन्होंने ऊपर के धाम, अंतरिक्ष और द्युलोक, को बनाया, जिन्होंने तीव्रगति से इन लोकों में चक्रमण किया।'

विष्णुर्गोपा परमं पाति धाम।
प्रिया धामान्यमृता दधानः॥ ३, ५५, १०॥

'रक्षक विष्णु परम धाम को जाते थे। अमृत रूपी प्रिय धामों को धारण करते हैं।' धाम शब्द का अर्थ है ज्योतिर्मय लोक। नीचे लिखा मंत्र पहिले भी उद्धृत हो चुका है :

त्रीणि पदा विचक्रमे, विष्णुर्गोपा अदाभ्यः
अतो धर्म्माणि धारयन्।

'अजेय रक्षक विष्णु तीन पाँव चले, इस प्रकार धर्म्मों को धारण करते हुए।' विष्णु वह हैं जो व्याप्नोति—व्यापक हैं। विष्णु वह सत्व हैं, वह व्यक्ति विशेष हैं, जो तीन पद चलते हैं, जो तीन लोकों में सर्वत्र व्याप्त हैं। यह तीन लोक, नये शब्दों में भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, पुराने शब्दों में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक हैं। गतिसूचक 'चलना' शब्द इस बात की ओर संकेत करता है कि वह निरन्तर सतर्क हैं, उनकी दृष्टि बराबर सब जगह पड़ती रहती है। वह चलकर धर्म्मों को धारण करते हैं। यह वह धर्म्म हैं, वह नियम हैं, जो जगत् की उत्पत्ति के समय प्रकट हुए थे। जब हिरण्यगर्भ ने भावी जगत् का विचार के रूप में साक्षात्कार किया, जब उसकी रूपरेखा सामने आयी, तो वेद के शब्दों में उन्होंने तप किया। **तस्य ज्ञानमयं तपः**—उनका तप ज्ञानमय है। उस तप से पहिले ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। **'ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'** उद्दीप्त तप से ऋत और सत्य का जन्म हुआ। जिन नियमों के अनुसार भौतिक जगत् में कार्य्य कारण की शृंखला चलती है उन्हें ऋत और जिनके अनुसार कर्म्म की पुण्यपापात्मक शृंखला चलती रहती है उनको सत्य कहते हैं। इन नियमों के लिए कहा है:

तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् । १०, ९०, १६ ।

वह प्रथम धर्म्म थे। उन्हीं का धारण, संरक्षण, विष्णु करते हैं। इसीलिए उन्हे गोपा कहा है। उनकी गति अप्रतिहत है, उनके काम में बाधा नहीं पड़ती, इसलिए अजेय कहा है। इस मंत्र से पौराणिक विष्णु का एक प्रकार से चित्र खिंच जाता है।

वेद में विष्णु और इन्द्र का बहुत साथ है। उनको **इन्द्रस्य युज्यः सखा** कहा है। यह इन्द्र के मित्र हैं और सदैव इन्द्र की इच्छा के अनुसार काम करते हैं। उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं है—**'उभाजिग्यथुर्नपराजयेथे।'** न **'परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।'** ६, ६९, ८, इन दोनों में कोई दूसरे को जीतता नहीं। इन्द्रसखा होने के साथ साथ विष्णु इन्द्र। वरज, इन्द्र के पीछे जन्म लेने वाले, भी हैं। इन्द्र अग्रज हैं, विष्णु अवरज। इन्द्र बड़े भाई हैं, विष्णु छोटे भाई। इनकी एक और उपाधि भी है, उपेन्द्र, उप इन्द्र। यह एक प्रकार के गौण इन्द्र हैं जो इन्द्र की जगह

काम कर सकते हैं। इससे यह प्रत्यक्ष है कि विष्णु का स्थान बहुत ऊँचा था, वह इन्द्र से नीचे तो थे परन्तु बहुत नीचे भी नहीं थे। इसलिए जब इन्द्र को पदच्युत किया गया तो पुराणों को उनकी जगह विष्णु को ला बैठाने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। भूमिका पहिले से तैयार थी।

वेद के बहुत से मंत्रों में विष्णु का चर्चा दूसरे देवों के साथ आया है।

इन्द्रा विष्णू पिबतं मध्वो अस्य सोमस्य। ६, ६९, ७।

'इन्द्र और विष्णु इस मदकर सोम को पियें।' उसी मंत्र में यह प्रार्थना भी की गयी है :

उपब्रह्माणि शृणुतं हवं मे

'दोनों देव, मेरे आह्वान को और मेरे कहे मंत्रों को सुनें।'

पौराणिक काल मे ऐसे वाक्य भला कहाँ सुने जा सकते थे? या तो किसी देव-देवी को सिर पर उठा लिया जाता था या उसको धूलि में मिला दिया जाता था। विष्णु के उपासकों के लिए यह असह्य था कि उनके साथ किसी और का नाम लिया जाय।

विष्णु का नाम नारायण भी है। आपो नारा-अप शब्द का एक नाम नार भी है। नार में जिसका निवास है वह नारायण है। अप साधारण जल का नाम नहीं है। प्रलय के पश्चात् और नये जगत् के विकास के पहिले जगत् के निर्माण की सामग्री एकरस अविभक्त रूप में रहती है। उस अवस्था का नाम आपः है, उस दशा में अकेला ईश्वर निष्क्रिय रूप से रहता है। उसी अवस्था में उसे नारायण कहते हैं। उस अवस्था को कहीं-कहीं पुराणों में यों चित्रित किया जाता है कि चारों ओर जल है। बीच में एक बट वृक्ष है। उसपर एक बालक अपने पाँव के अँगूठे को मुँह में लिए सो रहा है। इस संसार को बटवृक्ष से बहुधा उपमा दी जाती है। जिस प्रकार छोटे से बीज से बट का पेड़ निकलता है

और फिर उसका विस्तार हो जाता है उसी प्रकार संसार फैलता है। अपने में सब कुछ समेट कर निष्क्रिय रूप से अकेले आत्माराम होने को अँगूठे को मुंह में डालकर सोना दिखलाया गया है। चारों ओर का जल ही आपः है।

विष्णु को लक्ष्मीपति कहते हैं, उनकी पत्नी का नाम लक्ष्मी है। ऋग्वेद के परिशिष्ट स्वरूप खिल सूक्तों में लक्ष्मी सूक्त आता है। उसमें लक्ष्मी का माहात्म्य दिया है। उसके कई पाठ मिलते हैं। उनमें किसी-किसी में लक्ष्मी को हरिवल्लभा और विष्णुपत्नी कहा है।

जगत् का एक दिन विनाश भी होता है। संकोच हो कर वह अपने मूल में, परमात्मा में, विलीन हो जाता है। उस समय त्रिमूर्ति के तीसरे देव, रुद्र, की आवश्यकता पड़ती है। जिस परमात्मा ने ब्रह्मा के रूप में उसे जन्म दिया था और विष्णु रूप से पाला था वही रुद्र रूप से संसार का संहार करता है। रुद्र का संहारक रूप वेदसम्मत है ही, यजुर्वेद के रुद्राध्याय के १५वें और १६वें मंत्र मे **'मा नो महान्तमुत मा नोऽर्भकमा न उक्षन्त'** इत्यादि शब्दों में जो प्रार्थना की गयी है वह रुद्र के स्वरूप का परिचय देती है: हमारे बड़ों और छोटों, पिता-माता और बच्चों तथा पशुओं को, मत मारो, हमारी आयु पर क्रोध मत करो।' उनसे बार बार कहा जाता है कि अपने वाणों को **"पराचीना मुखाकृधि"**— उनका मुंह हमारी ओर से फेर दीजिए।

ऋग्वेद मे भी रुद्र का यही रूप है:

मा नो वधी रुद्र मा परा दा मा ते भूम प्रसितौ हीळितस्य।
आ नो भज बर्हिषि जीवशंसे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।

। ७, ४६, ४।

'हे रुद्र, तुम हमारा वध मत करो, हमारा त्याग भी मत करो, हम पर क्रोध करके अपने बन्धन में मत डालो, लोगों द्वारा प्रशस्त यश के भागी हम को बनाओ, आप लोग सदा हमारा कल्याण करो।' रुद्र ग्यारह हैं, इसलिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

रुद्रों के सम्बन्ध में कहा गया है :

युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो ववक्षुरध्रिगावः पर्वता इव ।
दृळ्हाचिद्विश्वा भुवनानि प्रच्यावयन्ति दिव्यानिमज्मना ॥
। १, ६४, ३ ।

'युवा, अजर, देवों को हवि न देने वालों का हनन करने वाले, अप्रतिहत-मति, पर्वतों के समान दृढ़ रुद्रगण स्तुति करने वालों के हित की इच्छा करते हैं। वह अपने बल से समस्त पार्थिव और दैवी भुवनों को हिला डालते हैं।'

रुद्र का रूप इस मंत्र से भी अभिलक्षित होता है :

इमा रुद्राय स्थिरधन्वन गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु नः ॥
। ७, ४६, १ ।

'हे श्रोतागण उन रुद्र देव की स्तुति करो जो दृढ़ धनुषधारी, वेगवान तीर-वाले, अन्न देने वाले, किसी से भी अभिभूत न होने वाले, विधाता और तीक्ष्णायुधों से युक्त हैं। वह रुद्र हमारी स्तुति सुनें।'

विश्व का जन्म हुआ तो संहार भी होगा ही। ऐसी दशा में होना यह चाहिए था कि जिस प्रकार ब्रह्मा की विशेष रूप से पूजा नहीं होती वैसे ही रुद्र की भी न होती। प्रलय को टाला नहीं जा सकता, फिर रुद्र की उपासना क्यों की जाय ? जब तक जगत् है तब तक रक्षा का काम तो विष्णु संभाल ही लेंगे। यह एक रहस्य है जिसकी गहराई इस बात को देखकर और भी बढ़ जाती है कि रुद्र का जहाँ भयंकर रूप है वहाँ सौम्य रूप भी है। वेद में ही उनको शम्भु, शंकर और शिव कहा है। इन सब का अर्थ है कल्याणमूर्ति, कल्याणकारी। एक मंत्र कहता है कि

या ते रुद्र शिवातनूरघोरा...तयानस्तन्वा शन्तमया भिचाकशीहि

'हे रुद्र, तुम्हारा जो अघोर, शिव, परमकल्याणकारी शरीर है उससे मुझको देखो।'

यह विचित्र बात है। जो उग्रकर्म्मा है, घोर है, रुलाने[1] वाला है, उसका अघोर और कल्याणकारी रूप कैसा ? कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस पहेली का अनूठा हल निकाला है। वह कहते हैं कि जो क्रूरकर्म्मी होता है, उससे डरकर उसके आगे चाटुकारिता करना मनुष्य की सहज दुर्बलता है। उद्दंड राजा को लोग धर्म्मावतार कह कर सम्बोधित करते हैं। इसी प्रकार रुद्र को प्रसन्न रखने के लिए उनको मंगलकारी कहा गया है।

मोहेञ्जोदड़ो में ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं जो शंकर से मिलती हैं। इससे अनुमान होता है कि वहाँ शकर या उनसे मिलते-जुलते किसी देव की पूजा होती थी। कुछ विद्वानों का मत है कि आर्य्यों ने रुद्र की पूजा सुमेरियन लोगों या किन्ही अन्य अनार्य्यों से सीखी। आर्य्यों के देव सब सौम्य होते हैं, रुद्र का स्वभाव उग्र, अनार्य्य है। काल पाकर किसी प्रकार रुद्र और शिव मिलकर एक कर दिये गये होंगे। यह सब केवल अटकल है, जिसके लिए कोई आधार नहीं है। वैदिक दर्शन पर गम्भीरता से विचार न करने से ही ऐसे अटकल लगाने पड़े है।

बात यह नहीं है। इस रहस्य को समझने के लिए जगत् के विकास और संकोच को समझना होगा। जो लोग इन शब्दों को सृष्टि और विनाश के समानार्थक समझते है, वह भूल करते हैं। सृष्टि कहते हैं 'कुछ नहीं' से 'कुछ' के बनने को और विनाश कहते हैं 'कुछ नहीं' हो जाने को। भारतीय दृष्टि में दोनों बातें नहीं होतीं। गीता के शब्दों में :

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।

'न असत् का भाव (होना) होता है, न सत् का अभाव (न होना) होता

---

१. रुद्र की यह व्युत्पत्ति मानी जाती है : रोदयति (रुलाता है)—रुद्रः

है।' जगत् भले ही रूप और अवस्था बदलता रहे, परन्तु उसका आधार नित्य है। जल में बुद्बुद् पहिले देख नहीं पड़ता था पर वह जल रूप में था। कुछ देर बाद वह फिर न देख पड़ेगा, पर जल रूप में रहेगा। न वह पहिले कुछ नहीं था न अब कुछ नहीं हुआ। इसी प्रकार जगत् अपने आधार परमात्मा से आविर्भूत होता है, फिर उसी आधार में विलीन होता है। जीवों के कर्म्मों का नाश नहीं होता। उनके अनुसार विलीन जगत् का पुनः रूपान्तर से प्रकट होना अवश्यम्भावी है। न किसी को सदा के लिए स्वर्ग में रहना है, न नरक में। रुद्र कोई उग्रमना दैत्य नहीं है जिसे बने बनाये जगत् को बिगाड़ने और जीवों को सताने में आनन्द मिलता हो। उदय और अस्त, आविर्भाव और तिरोभाव, विकास और विलय, दोनों ही जगत् की आवश्यक अवस्थाएं हैं।

उपनिषदों में तो यह बात आती ही है कि यह जगत् जैसा इन्द्रियों को प्रतीत होता है वैसा नहीं है, संहिता भाग से भी ऐसा कई स्थलों पर कहा गया है। वह मंत्र उद्धृत किया जा चुका है जिससे यह कहा गया है कि वस्तुतः इन्द्र ने कभी किसी से युद्ध नहीं किया। वह अपनी माया के कारण युद्ध करते देख पड़ते हैं। वह मंत्र भी दिया जा चुका है जिसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि, प्रजापति जन्म नहीं लेते फिर भी अनेक शरीर धारण करते देख पड़ते हैं। यह जगत्, जैसा कुछ भी है, इसकी प्रतीति भी सबको एक सी नहीं होती। धनी, निर्धन, स्वस्थ और रोगी, के जगत् अलग-अलग हैं। यह सारी अयथावत् प्रतीति अज्ञान के कारण होती है। अज्ञान ज्ञान से दूर होता है और ज्ञान का उदय योग, वैराग्य और तप से होता है। जिसका अज्ञान दूर होता है उसके लिए संसार नहीं रह जाता। संसार के तिरोभाव में वह अपने उस आनन्दमय स्वरूप का अनुभव करता है **'यत्र विश्वंभवत्येकनीडं'**—जहाँ समूचा विश्व सिमिट कर एक बिन्दु पर आ जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए उसके विश्व का प्रलय उसके लिए कल्याण का मार्ग है।

यों तो शिव सभी विद्याओं के स्रोत हैं; व्याकरण, संगीत, तथा अन्य कई शास्त्र उनको ही अपना आदि प्रवर्त्तक मानते हैं परन्तु योग वेदान्त से तो उनका विशेष सम्बन्ध है। वह आदिनाथ, योगीश्वर, योगिराट् हैं, अतः स्वभावतः मुमुक्षुओं पर उनकी महती कृपा रहती है। विनाश, संहार तो क्रूर कर्म्म प्रतीत

होता है। परन्तु जिस व्यक्ति के संसार का विनाश होता है, वस्तुतः उसकी अविद्या का विनाश होता है। उसके लिए रुद्र शिव हैं। अतः उनसे इस आशा को लेकर प्रार्थना की जाती है कि वह संसाररूपी बन्धन से छुटकारा दिला देंगे। ऐसा माना जाता है कि अपनी पुरी में शंकर सबको मोक्ष देते हैं। उनकी पुरी का नाम काशी या वाराणसी है। योग के ग्रन्थों में बताया गया है कि वाराणसी भ्रूमध्य के उस स्थान को कहते हैं जहाँ पर इड़ा और पिंगला नाम की दोनों नाड़ियाँ मिलती है। वहाँ तक कोई योगी ही पहुँच सकता है। जो वहाँ तक पहुँचेगा वह स्वतः मुक्त होगा। इसीलिए उसको काशी, प्रकाशमयी भी कहते हैं। वहाँ आत्मज्ञान का प्रकाश अविद्या के अन्धकार को दूर कर देता है।

ऐसी अवस्था में स्वभावतः रुद्र का महत्व विष्णु के समान ही माना गया, परन्तु दोनों की उपासनाओं में प्रत्यक्ष अन्तर है। भर्तृहरि का यह श्लोक इस भेद को स्पष्ट कर देता है :

> एका कान्ता सुन्दरी वा दरी वा,
> एको वासः पत्तने वा वने वा, ।
> एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा,
> एको देवः केशवो वा शिवो वा ।।

इसका सारांश यह है कि जो लोग संसारी वैभव—इस लोक या परलोक में अभ्युदय—चाहते हैं उनको नगर में रहना चाहिए, सुन्दर स्त्री की कामना करनी चाहिए, श्रीमानो का साथ करना चाहिए और विष्णु की उपासना करनी चाहिए और जो लोग निःश्रेयस, मोक्ष के खोजी हैं, उनको एकान्त सेवन करना चाहिए, साधुओं का संग करना चाहिए और शिव की उपासना करनी चाहिए।

यह बात आज भी प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। विष्णु मन्दिरों में जो राजसी ठाट बाट होता है, भोग पूजा की जो व्यवस्था होती है, उसका प्रायः शैव मठ-मन्दिरों में अभाव होता है। देश के सम्पन्न मन्दिर तिरुपति, श्रीनाथ द्वारा, जगन्नाथपुरी, पद्मनाभ सभी वैष्णव उपासना केन्द्र हैं।

वैदिक देवों की पूजा हटा कर शैव और वैष्णव उपासना शैलियों को समाज में जगह पाने में समय लगा। पुराणों में इस बात की कुछ झलक तो मिलती है परन्तु विकृत रूप में और सैकड़ों वर्षों की घटनाओं को कुछ घड़ियों के भीतर बाँध दिया गया है। फिर भी कुछ न कुछ संकेत मिलता है। गोवर्धनधारण की कथा प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष ब्रज में वर्षा के लिए यज्ञ होता था, इन्द्र की पूजा होती थी। श्रीकृष्ण ने रोक दिया। इसका कोई कारण नहीं बताया गया है। इन्द्र ने क्रोध करके घोर वृष्टि की, कृष्ण ने गोवर्द्धन पहाड़ को उठाकर ब्रज को बचा लिया। इन्द्र हार गये। उन्होंने कृष्ण की स्तुति की और लज्जित होकर, स्वर्ग चले गये। इसी प्रकार शिव पुराण में लिखा है कि ऋषि लोग तपोमग्न थे। इसी बीच में शिव नंगे होकर उनकी पत्नियों के सामने आये। ऋषि लोगों ने लौटने पर अपनी स्त्रियों को लिंग पूजा करते देखा। बहुत रुष्ट हुए, पर उनकी एक न चली। यह पूजा प्रचलित हो गयी। भृगु की कथा है कि उन्होंने विष्णु की छाती पर लात मारी जिसका चिह्न आजतक बना हुआ है, पर अन्त में उन्हें विष्णु की महत्ता स्वीकार करनी पड़ी। इस प्रकार की कथाएँ यह दिखलाती हैं कि नयी उपासनाओं का विरोध किया गया। ऋषि लोग, जिनके प्रतीक प्राचीन पुरोहित वंश के नेता भृगु थे, इनको स्वीकार नहीं कर रहे थे पर उनका बस नहीं चला। यह भी अनुमान होता है कि नयी उपासना शैलियाँ पहिले समाज के कम शिक्षित वर्गों से चलीं, विद्वानों ने उनका विरोध किया। लिंग पूजा को पहिले स्त्रियों ने अपनाया। कृष्ण की पूजा अशिक्षित गोप गोपियों से आरम्भ हुई। ब्रह्मा की पूजा का कोई विरोध नहीं हुआ क्योंकि उसने किसी वैदिक उपासना पद्धति को हटाकर उसकी जगह लेने का प्रयत्न नहीं किया।

वैदिक देवों को पीछे हटाकर विष्णु और शिव को आगे लाना पौराणिक काल की मुख्य देन है।

यह मैं पहिले भी लिख चुका हूँ कि पुराणों के साथ भले ही व्यास का नाम खींचा जाय परन्तु उनका अन्तःसाक्ष्य कहता है कि उनका रचयिता कोई एक व्यक्ति नहीं था।

कई पुराणकार बड़े ही नासमझ थे। अपनी धुन में उनको यह भी ध्यान नहीं रहा कि और चाहे जो कुछ किया जाय

पर वेद की निन्दा तो नहीं ही करनी चाहिये। वेद ही वह मंच है जहाँ शैव, वैष्णव आदि सभी सम्प्रदायों के अनुयायी मिलते हैं। वेद ही सब को मिलाता है। यदि वेद पर से आस्था हट गयी तो सब बिखर जायेंगे। जिसने गोवर्धन धारण की कथा लिखी, उसको वेद की निन्दा कराने से क्या लाभ हुआ ? यदि वैदिक यज्ञ का परित्याग हो गया तो उसकी जगह क्या लेगा ? सब लोग तो कृष्णोपासक नहीं हैं, न होंगे। ऐसा कहा जाता है, स्वयं पुराणों मे भी यही लिखा है कि बहुत तपस्या के बाद इन्द्र पद मिलता है। परन्तु कहानियों को गढ़ते समय वह इस बात को भूल गये। बार बार यह दिखलाया गया है कि किसी को आध्यात्मिक उत्कर्ष के पथ पर चलते देखकर इन्द्र घबरा उठते हैं कि कही यह मेरा पद न छीन ले। उसको तपोभ्रष्ट करने का प्रयास करते हैं। ऐसी बात अवैदिक भी नहीं कहते। बौद्धों के अनुसार बुद्धदेव को तपोभ्रष्ट करने का प्रयत्न मार ने किया पर अपने को वैदिक कहते हुए पुराणकार यह नीच काम इन्द्र से कराते है। इतने दिनों तक तप करके भी इन्द्र पदलोलुप बने रहे। वह इतना न समझ सके कि कौन किस लिए तप करता है।

गोवर्द्धन धारण की कथा लीजिए। इन्द्रोपासना की वैदिक पद्धति के लोप कराने से कृष्ण को क्या मिला ? बौद्धावतार की बात होती तो यह भी कहते कि वह वेदों की जान बूझकर निंदा करा रहे थे। परन्तु कृष्ण का तो यह उद्देश्य नहीं था। स्वयं उन्होंने गीता में कहा है :

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं तेकार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्तुमिहार्हसि ।

'इसलिए कार्य्य अकार्य्य की व्यवस्था मे तुम्हारे लिए शास्त्र प्रमाण है। शास्त्र के विधान को जानकर तुमको कर्म्म करना चाहिए।'

शास्त्रों में तो सब से बड़ा प्रामाण्य वेद का है। वेद के विधान को छुड़ाकर उन्होने क्या **वदतोव्याघात**, स्वयं अपना खण्डन, नहीं किया। सब लोग कृष्णपूजक तो हुए नहीं, यह बात भी वह जानते रहे होंगे। कहा जाता है **कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**–कृष्ण पूर्ण कलावतार भगवान् थे। फिर इन्द्र उनसे लड़ने क्यों गये ? और,

देवों के साथ मिलकर इन्द्र ने भी विष्णु से प्रार्थना की थी कि आप भूभार उतारने के लिए पृथिवी पर अवतरित होइये। इसलिए इन्द्र को तो ज्ञात ही था कि कृष्ण कौन हैं। फिर उनसे लड़ने की मूर्खता उन्होंने क्यों की ? व्यर्थ जान-बूझ कर अपना अपमान उन्होंने क्यों कराया ? जिसने इस भद्दी कथा को लिखा उसने न तो इन्द्र की मर्य्यादा का ध्यान रखा, न कृष्ण की प्रतिष्ठा की रक्षा की। हाँ, वेद पर कुठाराघात करने में निश्चय ही उसको कुछ सफलता मिली।

किसी कवि ने कहा है—**विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः** —जो विवेकभ्रष्ट होता है वह बड़े वेग से गिरता है। इन्द्रादि के चरित्र को कलंकित करने वालों को इसकी लत सी पड़ गयी। उन्होंने अपने उपास्यों को भी नहीं छोड़ा। उनसे ऐसे ऐसे निंद्य कर्म कराये जिनको कोई साधारण गृहस्थ सोच भी नहीं सकता। शिव पुराण की उस कथा का उल्लेख हो चुका है जिसके अनुसार शिव ऋषि पत्नियों के सामने नंगे घूम रहे थे। तुलसी उपाख्यान इससे भी भ्रष्ट है। जालन्धर नाम का एक असुर था। वह बहुत ही धर्म्मात्मा था और उसकी पत्नी वृन्दा बड़ी ही साध्वी स्त्री थी। देवगण उससे बराबर हार जाते थे क्योंकि उसको यह वरदान था कि जब तक उसकी पत्नी का पातिव्रत अक्षत रहेगा तब तक वह अजेय रहेगा। वह एक बार लड़ाई पर गया हुआ था। विष्णु उसका वेष धर कर उसके घर आये और उन्होंने वृन्दा का पातिव्रत नष्ट किया। जालन्धर मारा गया, देवों की विजय हुई। विष्णु को यह दंड मिला कि वह शालग्राम शिला के रूप में पत्थर हो गये और पुरस्कार यह मिला कि तुलसी के रूप में वृन्दा उनकी चिरसंगिनी बन गयी। तुलसी की पत्ती चढ़ाये बिना विष्णु की तृप्ति नहीं होती। किसी स्त्री के सतीत्व को नष्ट करना, चाहे वह शत्रु की ही पत्नी क्यों न हो, कितना नीच काम है, यह बात पुराणकार की समझ में न आयी। उसने विष्णु से यह काम करा डाला। उसके सामने बस एक काम था। असुरों को हराना, साधन चाहे जो और जैसा हो।

इस कहानी का रचयिता एक और महत्त्वपूर्ण बात भूल गया। आर्य्य आदर्श यह है कि साध्वी स्त्री जन्मजन्मान्तर में अपने पति को नहीं छोड़ती। वृन्दा सती थी, उसको जालन्धर पर निष्ठा थी, उसने विष्णु की पत्नी बनना कैसे स्वीकार

कर लिया? इस कथा ने तुलसी को उमा, लोपामुद्रा, अरुन्धती, सावित्री, जैसी सती स्त्रियों के समाज में बैठने योग्य न रखा।

वैदिक यज्ञों का चलन जाता रहा था और लोग देवताओं को भूल गये थे, परन्तु पराशक्ति को नहीं भूल सके। उसकी सर्वात्मकता और सर्वव्यापकता की अब भी वैसी ही धाक बैठी हुई थी। परन्तु उस समय की प्रथा के अनुसार पराशक्ति के कलेवर में भी कुछ परिवर्तन किये गये। ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री देवताएँ महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली नाम की महाविद्या बन गईं। यह ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के माध्यम से काम करती हैं और इन देवों की शक्ति या पत्नियाँ मानी जाती हैं। इसी प्रकार अन्य देवों को भी पत्नियाँ मिली हैं। बहुवचनान्त शची शब्द वेदों में कई जगह इन्द्र के तेज के लिए प्रयुक्त हुआ है: पुराणों में शची इन्द्र की पत्नी का नाम है। एक बात स्वीकार करनी होगी: देवी के चरित्र पर लांछन लगाने का साहस किसी पुराणकार ने नहीं किया। पुराणो में देवी के कुछ नाम तो वेदोक्त हैं परन्तु अधिकतर ऐसे हैं जो पौराणिक कथाओं में पहिली बार देखने को मिलते हैं। दुर्गा, महिषमर्दिनी, चंडी, चामुण्डा, कालिका, शाकम्भरी, विन्ध्यवासिनी, वाराही, कौमारी आदि सब नये नाम हैं। तारा, बगलामुखी, छिन्नमस्ता, त्रिपुरसुन्दरी जैसे नामो ने तो तंत्रों के द्वार से प्रवेश पाया है।

सिद्धान्तदृष्ट्या यह भले ही मान लिया जाता हो कि देवगण एक दूसरे से और परमात्मा से अभिन्न हैं, परन्तु पुराणों में यह बात दबी सी रहती है। जहाँ विष्णु के नाम गिनाये जाते हैं उनमें शिव के नामों का भी सन्निवेश कर दिया जाता है। इसी प्रकार शिव के नामों में विष्णु के नाम भी परिगणित होते हैं। यह भी स्थान स्थान पर कहा गया है कि त्रिदेव में कोई बड़ा छोटा नहीं है, सब एक ही परमात्मा की विभूतियाँ हैं, एक दूसरे से अभिन्न हैं, जो इनमें भेद करता है वह पाप का भागी होता है। यह सब है परन्तु इसके साथ ही भेद-सूचक सामग्री का प्राचुर्य्य है। वैष्णव पुराण बराबर यह दिखलाते है कि शिव विष्णु के भक्त हैं और उन्हीं की उपासना करते हैं। इसके विपरीत शैव पुराण विष्णु को शिव का सेवक बताते हैं। इन्द्रादि की तो गणना ही क्या है, बेचारे ब्रह्मा जी भी विष्णु और शिव के सामने हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। परन्तु जहाँ देवी का

का चर्चा है वहाँ यह बात नहीं आने पायी है। तीनों महाविद्याओं में कोई किसी से छोटी या बड़ी नहीं है। सभी देवियाँ उस पराशक्ति की ही भेद हैं, यह बात स्पष्ट शब्दों में समझायी गई है। मार्कण्डेय पुराण में ही सप्तशती नाम का वह ग्रन्थ है जो सारे देश में देवी माहात्म्य के नाम से प्रसिद्ध है। घर घर में नव-रात्र के दिनों में इसका पाठ होता है। इसमें शुम्भ नाम के दैत्य के बध के प्रसंग में बतलाया गया है कि महासरस्वती की ओर से लड़ने के लिए सभी देवों के शरीरों से निकल कर उनकी शक्तियाँ युद्ध क्षेत्र में आयीं। कुछ देर बाद शुम्भ ने यह आपत्ति की कि मैं अकेला हूँ। इन सब देवियों के बल पर तुम मुझ से लड़ रही हो। इस पर देवी ने कहा :

एकैवाहं जगत्यत्र, द्वितीया का ममापरा ।
पश्यैता दुष्ट मय्येव, विशंत्यो मद्विभूतयः ।।

'इस जगत् में मैं अकेली हूँ। मेरे सिवाय दूसरा कौन है ? दुष्ट, देख, मेरी विभूतियाँ मुझ में ही समा जाती हैं।' और फिर—

ततः समस्तास्ता देव्यो, ब्रह्माणी प्रमुखा लयम् ।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मु, रेकैवासीत्तदाम्बिका ।।

'तब ब्रह्माणी आदि वह सब देवियाँ महासरस्वती के शरीर में विलीन हो गयीं और अम्बिका अकेली ही रह गयी।'

देवी भागवत के तृतीय स्कन्ध में एक और भी सुन्दर उपाख्यान है जिसमें केवल देवियों का ही नहीं वरन् सारे जगत् का देवी के साथ तादात्म्य दिखलाया गया है। एक बार ब्रह्मा, विष्णु और शिव विमान पर बैठकर चले। उनको अपने से भी बड़े त्रिदेव के दर्शन हुए, फिर देवी के लोक में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर द्वार पर ही सब स्त्री हो गये। देवी के पाँव के नख में उनको सचराचर सारा जगत् देख पड़ा। फिर स्वयं देवी ने उनसे कहा :

नाहं स्त्री न पुमांश्चाहं, न क्लीवं सर्गसंक्षये ।
सर्गे सति विभेदः स्यात्, कल्पितोऽयं धिया पुनः ॥

किं नाहं पश्य संसारे मद्वियुक्तं किमस्ति हि ।
सर्वमेवाहमित्येवं, निश्चयं विद्धि पद्मज ॥

'जगत् के संकोच होने पर न मैं स्त्री हूं, न पुरुष, न क्लीव हूँ परन्तु जगत् के पुनः उत्पन्न होने पर यह बुद्धिकल्पित भेद हो जाते हैं। देखो, संसार में मैं क्या नहीं हूँ। मेरे सिवाय और क्या है? हे ब्रह्मा, यह निश्चय मानो कि मैं सब कुछ हूँ।'

वैदिक देवों की भाँति पौराणिक देवों की उपासना में मंत्रपाठ, जप या ध्यानमात्र से काम नहीं चलता था। उनके स्वरूप का वर्णन करना था, उनके आयुधों और वाहनों का वर्णन करना था। यदि यह लोग बुद्ध की भाँति ऐतिहासिक व्यक्ति होते तो भी सुविधा होती। यह बात भी नहीं थी। कल्पित चित्र खीचने थे। इन चित्रों के आधार वे गुण थे जो पुराणकारों के अनुसार उन देवो में पाये जाते हैं। ब्रह्मा जी उस कमल पर विराजमान है, जो विष्णु की नाभि से निकला था। उन्होंने ही चारों वेदों को मनुष्यों को प्रदान किया था इसलिए चतुर्भुज दिखलाये जाते हैं। उनके हाथ में कोई शस्त्र नहीं होता। ठीक भी है जो स्रष्टा है वह अपनी बनायी किसी वस्तु का संहार कैसे करे? उसके लिए सभी अच्छी हैं। उनके पास कमंडलु में वेद मंत्रों से पवित्र किया हुआ जल रहता है, वह उसी से सिञ्चित करके लोगों को पवित्र करते हैं।

विष्णु चतुर्भुज है। वह संसार के पाता, रक्षक हैं, इसलिए दुष्टो को दंड देने वाले शस्त्र भी है, अच्छे लोगो को पुरस्कार और आश्वासन देने के भी साधन हैं। चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं। चक्र उनका मुख्य आयुध है। वह महालक्ष्मी स्वरुपा उनकी सौदर्शनी शक्ति का बाहरी रूप है। कभी कभी आठ हाथों की मूर्ति भी होती है। उसके आयुधों में उपर्युक्त चार के सिवाय तलवार, तीर, धनुष और ढाल को जोड़ दिया जाता है। विष्णु के दोनो चरणों के बीच में पृथिवी होती है।

शंकर की बहुधा तो मूर्ति होती ही नहीं। लिंग मात्र बना होता है नास्ति मूर्तिरलिंगस्य—अलिंग की मूर्ति नहीं होती। शंकर योगिराज हैं, वह स्वयं उस तत्त्व के प्रतीक हैं जिसे 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'—जो अक्षर, अक्षय है, शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध से परे है, उसके प्रतीक, उसकी मूर्ति, में भी किसी प्रकार की आकृति, कोई अवयव, कोई अंग नहीं होना चाहिए। यह लिंग उस ज्योतिर्लिंग का भी संसूचक है जिसका साक्षात्कार योगी को हृदयचक्र में पहुँच कर होता है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि लिंग और वह अर्घ्या जिसमें वह स्थापित होता है लिंग और योनि, पुरुष तत्व और स्त्री तत्त्व, के चिह्न हैं जिनके योग से सृष्टिक्रम चलता रहता है। यदि कभी ऐसा था भी तो आज वह बातें विस्मृत हो गयी है। कहीं कहीं शंकर पञ्चमुख भी दिखलाये जाते हैं। यह मुँह उनके अघोर, तत्वपुरुष, वामदेव, सद्योजात और ईशान, इन पाँच रूपों के संस्मारक हैं।

यहाँ केवल संक्षिप्त वर्णन ही किया जा सकता है। इन देवों के विभिन्न रूपो के पीछे गम्भीर विचारधारायें हैं, आयुधों और बाहनों के दार्शनिक आधार हैं।

वृषभ

उदाहरण के लिए शंकर का बाहन वृषभ है। यह बल का प्रतीक तो है ही, पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में धर्म्म का भी प्रतीक माना जाता है। उसके चार पाँव धर्म्म के चार स्तम्भ स्वरूप हैं। वृषभ शब्द का और भी गम्भीर अर्थ है। उसकी मीमांसा सायणादि आचार्य्यों ने नहीं की। उसका संकेत इस प्रकार किया गया है :

> चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥
>
> । ४, ५८, ३ ।

'चार सींग, तीन पाँव, दो सिर और सात हाथ वाला वृषभ त्रिधा बँधा हुआ

गरज रहा है। महान् देव ने मनुष्यों में प्रवेश किया।' इस प्रकार जो भी वृषभ-रूपी महान् देव हो वह महादेव शंकर का वाहन है। यों तो शंकर के कई आयुध है पर उनका मुख्य आयुद्ध त्रिशूल है, जिसमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों शूलों को नाश करने वाली शक्ति निहित है।

देवी

देवी के अनेक रूप हैं। वे विग्रह भी गुणों के प्रतीक हैं। यदि चतुर्भुजा मूर्ति के हाथ में पाश, अकुश, वर और अभय मुद्रा है तो इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि वस्तुतः इस विचित्र आकृतिवाली कोई स्त्री है। पाश, अंकुश और वर तीनों गुणों की निशानी हैं। अभय मुद्रा शुद्ध निरञ्जन ब्रह्मपद की ओर संकेत करती है—**यत्र द्वैतं तत्र भयं**—जहाँ द्वैत है वहीं भय है। परन्तु कठिनाई यह है कि लोग इस बात को भूल गये कि यह सब लाक्षणिक भाषा है और यह मानने लगे कि तत्तत् देव का सचमुच वैसा शरीर, वैसा वाहन और वैसा आयुध है। इसी प्रकार देव देवियो को अनेक प्रकार के लोक बाँट दिये गये। वैदिक नाक की जगह न जाने कितने धाम और लोक बन गये। लोकों की दूरियाँ योजनों में बतलायी गयी है और लोगों के एक लोक से दूसरे लोक तक सशरीर जाने की कथाएँ मिलती हैं। ऐसी निराधार बातों को सुनते सुनते सामान्य जनता की दशा '**अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**'—अन्धों के नेतृत्व में चलने वाले अन्धों जैसी हो गयी। आध्यात्मिक जगत् स्थूल भौतिक जगत् बन गया। इन सब लोकों में पुण्यात्मा जाते हैं। हम पहिले बता चुके हैं कि ऐसे मुक्तियो को कर्म्मदेव कहते हैं। इन स्वर्गों के समान ही नरकों की वस्ती वसायी गयी। वेदों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि पापकर्म्मा मनुष्य तृतीय धाम को जाते है, आत्म हन्ता को '**अन्धेन तमसावृतं**'—अन्धकारमय गति प्राप्त होती है। नाक की भाँति यह भी बौद्धिक अवस्था है: नाक सुखमय होता है, यह दुःखानुभूतिमय। परन्तु पुराणों में नरकों का बड़े विस्तार से वर्णन है। स्वर्गों की भाँति नरक भी स्थूल भौतिक देश बन गये। सम्भव है स्वर्ग और नरक के इन वृतान्तों को पढ़ सुन कर कुछ लोगों की पुण्य की ओर प्रवृत्ति और पाप की ओर से विरति बढ़ती हो, परन्तु मेरी समझ में तो बहुत थोड़े से लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ता होगा।

साधारणतः लोगों के सामने मूर्तियों का रहस्य रखा नहीं जाता, यह बतलाया नहीं जाता कि मूर्ति प्रतीक मात्र है, वह स्वयं उपासना की वस्तु नहीं है। आदरणीय तो वह गुण हैं जिनके आधार पर वह बनी हैं। फलतः गुण तो भूल गये, मूर्ति स्वयं पूजा का विषय बन गयी। जिसको प्रतीकोपासक होना चाहिए था, वह पौत्तलिक बन गया, धातु और पत्थर के टुकड़ों का पुजारी बन गया।

तुलसीदास ने कहा है :

तुलसी प्रतिमा पूजिबो, जिमि गुड़ियन कर खेल।
भेंट भई जब पीव से, धरी पिटारी मेल ।।

परन्तु जब गुड़िया को ही पीव मान लिया जाय तब पिटारी में बंद करने का अवसर कहाँ आ सकता है और पीव से भेंट कहाँ हो सकती है ?

गणेश

इस काल में देव परिवार में कुछ वृद्धि भी हुई। कुछ नए सदस्यों का प्रवेश हुआ। यों तो स्थानीय देव देवी घटते बढ़ते रहते हैं परन्तु मैं जिनकी ओर संकेत कर रहा हूँ उनका महत्त्व सार्वभौम है : उनकी पूजा सारे देश में होती है। इनमें पहिला स्थान गणेश का है। वेदों में उनका कहीं चर्चा नहीं है, उनको उद्दिष्ट करके कोई मंत्र नहीं है ; उनकी पूजा के समय जो मंत्र पढ़ा जाता है 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' इत्यादि वह शुक्ल यजुर्वेद के अश्वमेधाध्याय में आता है और सिवाय गणपति शब्द के उससे कोई ऐसी बात नहीं है जिससे उसका संबंध गणेश से लगाया जा सके। जहाँ तक मैं देख सका हूँ, गणेश यहाँ के अनार्य्यों के उपास्य थे जो धीरे धीरे आर्य्य देवों में परिगणित हो गये। पहिले वह विनायक के रूप में आये। विनायक वह दुष्ट सत्त्व हैं जो सत्कार्य्यों में विघ्न डालते हैं, दुःस्वप्न उत्पन्न करते हैं, अन्य प्रकार से गृहस्थों को दुःख देते हैं। उनके शमन के लिए उपाय किये जाते हैं, विनायक शान्ति के लिए वैदिक विधान हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार विनायक के नाम यह हैं—मित, सम्मित, शालकटंकट तथा कूष्माण्ड राजपुत्र। किसी किसी शास्त्रकार ने शाल और

कटंकट तथा कूष्माण्ड और राजपुत्र को पृथक करके छः विनायक माना है। पहिले मंगल कार्य्यों का आरम्भ करने से पूर्व विनायक की शान्ति कर दी जाती थी, ताकि वह यज्ञमंडप में जाकर उपद्रव न करें। क्रमशः अमंगल वारण की जगह यह पूजा मंगल सिद्धि के लिए होने लगी। यह आशा होने लगी थी कि इस प्रकार की पूजा से अमंगल तो दूर होगा ही, मंगल होगा। गणेश मंगलकारी बन गये। तंत्र के द्वारा उनका प्रवेश बौद्ध धर्म में हुआ और वह तिब्बत, चीन, दक्षिणपूर्व एशिया और जापान पहुँचे। तुर्किस्तान मे उनकी मूर्ति मिलती है। पृथिवी पर स्यात् ही किसी देव देवी का प्रभाव इतने व्यापक रूप मे फैला हो। महाराष्ट्र में गणपति उत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जाता है।

हनुमान्

दूसरा नाम जो सामने आता है हनुमान् का है। हनुमान् तो वानर थे ही। वह विद्वान् थे। कहा जाता है कि उन्होंने साक्षात् सूर्य्य से व्याकरण पढ़ा था और राम के परम मित्र, सहायक और भक्त थे। लंका पर विजय प्राप्त होने का बहुत बड़ा श्रेय उनको है। उनका समादर आर्य्य जाति की कृतज्ञता का उज्ज्वल उदाहरण है। राम की पूजा के साथ उनकी पूजा भी बढ़ी। वेदो में तो भला उनका चर्चा कहाँ मिल सकता है? परन्तु उनको मारुती कहते है, वायु का पुत्र मानते हैं। मरुत्, वायु, वेदमान्य हैं, इस प्रकार हनुमान का वैदिक विधान से कुछ सम्बन्ध निकल ही आया।

सूर्य

यहाँ पर सूर्य्य का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा। वेद में सूर्य्य का स्थान बहुत ऊँचा है। फिर भी जब दूसरे वैदिक देवों का ह्रास हुआ तो उनको भी आदरच्युत होना ही पड़ता। परन्तु एक ऐतिहासिक घटना ने उनको बचा लिया। भारत पर शको ने आक्रमण किया। वह लोग सूर्य्योपासक थे। उनके साथ से सूर्योपासना को नया बल मिल गया। सूर्य्य की भी प्रतिमाएँ बनने लगी। पुरानी प्रतिमाओं में सूर्य शक वेष में मिलते हैं: शलवार और बूट पहिने तथा खड़े। फिर धीरे धीरे उनका भारतीयकरण हुआ। वेश भूषा बदल गया। अब वह नंगे पाँव, धोती पहिने, देख पड़ते हैं। शाकद्वीपी ब्राह्मण आज भी कहते हैं

कि श्रीकृष्ण के पौत्र शाम्ब को कुष्ट हुआ था। जब भारत में उसका उपचार न हो सका तो हम लोग शकद्वीप से बुलाये गये। हमारे पूर्वजों ने सूर्य्य के मंत्र के प्रताप से शाम्ब को रोगमुक्त किया।

वेद से समाज कितनी ही दूर हट गया हो परन्तु जब तक किसी पूजा पाठ की विधि को वेद से नहीं जोड़ लिया जाता तब तक चित्त को शान्ति नहीं मिलती। अशिक्षित लोग बैठकर चाहे भूत-प्रेत की ही पूजा करते हों परन्तु थोड़ा-सा हवन करना इस सब का आवश्यक अंग है और हवन में 'स्वाहा' शब्द आता ही है। किसी देव देवी की पूजा में यदि वेद मंत्र पढ़ा जा सके तो उसकी महत्ता बढ़ जाती है। पौराणिक काल में नवग्रह की पूजा का चलन पड़ा। नवग्रह न तो वैदिक देव हैं न देवता। सूर्य्य और चन्द्रमा को छोड़कर और ग्रहों का चर्चा वेद में नहीं मिल सकता, कम से कम और किसी की पूजा का विधान तो नहीं ही है। नवग्रह पूजा के साथ साथ अनुकूल मंत्रों की खोज हुई। किसी न किसी प्रकार खींच-खींच कर कुछ मंत्र ग्रहों के साथ जोड़े गये। उदाहरण के लिए शनि के लिए यह मंत्र पढ़ा जाता है :

शन्नो देवी रभिष्टये आपो भवन्तु पीतये,
शं योरभिस्रवन्तु नः। १०, ९, ४।

इसका तात्पर्य तो यह है कि जल हमारे पीने योग्य हो, बरसकर हमारा कल्याण करे और अमंगल को हमसे दूर करे। इसमें कहीं शनि का चर्चा नहीं है, केवल मंत्र के आरम्भ के शन्नो और शनि के ध्वनिसाम्य के आधार पर मंत्र शनि को दे दिया गया है।

गऊ को वैदिक काल में भी अघ्न्या, अवध्य, कहते थे, पौराणिक काल में उसका महत्त्व और बढ़ गया। उसको मातृपद दिया गया। ऐसा लगता है कि पौराणिक काल के पूर्वार्ध तक गऊ को इतनी मान्यता नहीं मिली थी, क्यों कि भारत से जो लोग उपनिवेश बसाने के लिए बाहर गये वह गऊ की प्रतिष्ठा अपने साथ नहीं ले गये।

गणेशादि का समावेश कुछ शतियों में हुआ होगा। जैसा कि ऐसी बातों में होता है, पहिले तो साधारण लोगों, अशिक्षित प्राय जनता, का झुकाव इधर

हुआ होगा। अपने अनार्य्य पड़ोसियों की देखा देखी उन्होंने नये देव देवियों को अपनाया होगा, सम्भवतः विद्वानों ने विरोध किया होगा या उपेक्षा की होगी। पर जब नयी पूजाओं की जड़ जम गयी होगी तब विवश होकर उनको शास्त्रीय रूप देना पड़ा होगा, नवीन का प्राचीन से समन्वय करना पड़ा होगा।

अनार्य्यों की विशाल संख्या का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। इसके दो प्रमुख उदाहरण हैं। दक्षिण भारत के द्रविड़ों में नाग पूजा का बड़ा महत्व था, वह सर्वत्र फैल गयी। दूसरा उदाहरण बड़े नीचे स्तर का है। आर्य्यों के देव सभी प्रसन्नवदन, सुन्दर, तेजस्वी थे। देव शब्द ही दिव धातु से निकला है, जिसका अर्थ है चमकना। अब वह इस स्तर से नीचे उतरे। रोगादि के पीछे काम करने वाली शक्तियों, हीन देवताओं, की भी पूजा होने लगी।

शीतला

इनकी प्रतीक शीतला है। किसी ने ठीक ही कहा है :

यादृशी शीतला देवी, तादृशो वाहनो खरः।

'जैसी शीतला देवी, वैसी उनकी सवारी, गधा।' शीतला को बहुत ऊँचा स्थान तो प्राप्त नहीं हो सका, परन्तु उनकी पूजा तो व्यापक है ही। जब कभी किसी रोग का प्रकोप होता है तो उनकी और उनके गणों की अर्चना बड़े जोरों से होने लगती है।

इस प्रकार देव परिवार में परिवर्तन हुए। वैदिक देवों में से कुछ रह गये, कइयों की पूजा प्रायः छोड़ दी गयी। तीन तो ऊपर उठे, शेष की महत्ता जाती रही। कुछ नयी मूर्तियों का समावेश हुआ, इनमें से एकाध के सम्बन्ध में तो यह कहना पड़ता है कि इनके आने से न तो देवकुल की मर्य्यादा बढ़ी, न उपासकों की। उपासना की पद्धति में भी बहुत अन्तर हो गया। मनुष्य अब अपने उपास्य के बहुत निकट आ गया। तपस्या की आवश्यकता नहीं रही, मंत्रों को सिद्ध

करने की आवश्यकता नहीं रही, अपने इष्ट देव से सीधे प्रार्थना की जा सकती थी। इष्टदेव भी मानव शरीरधारी थे, उनके साथ स्वभावतः अपनापन जल्दी स्थापित हो सकता था।

वैदिक देव अशरीरी थे, उनके साथ कुछ न कुछ दूर का सम्बन्ध रहता था। स्नेह हो परन्तु उनका रोब भी छाया रहता था। पौराणिक उपास्य वैसा अशरीरी नहीं था। देव मनुष्य के अधिक निकट आ गया था, उसके चरित्र का अनुकरण हो सकता था। यह आपसदारी का भाव मनुष्य को ऊपर उठा सकता था; पर यदि उपास्य का स्वयं चरित्र दूषित हो तो हानिकर भी हो सकता था।

इस युग में बहुत से स्थानों को महत्ता प्राप्त हुई। वैष्णव, शैव और शाक्त तीर्थ इसी युग की देन हैं। तीर्थ स्थान समूचे देश में फैले हुए हैं। नगर ही नहीं, कई नदी और पहाड़ भी पवित्र माने जाते हैं। निश्चय ही किन्हीं महापुरुषों के निवास ने उनको किसी समय यह गौरव प्रदान किया था परन्तु अब चाहे महापुरुषों की कथाएँ भूल गयी हों पर तीर्थों का गौरव बना हुआ है। यह बात निश्चय है कि महापुरुषों की परम्परा के लोप होने से लोगों की श्रद्धा तीर्थों पर से हट गयी है। इस सम्बन्ध में स्कन्द पुराण देखने योग्य है। उस समय के भारत की वृहत् निर्देशिका है। स्थानों का भौगोलिक वर्णन है, किस ने किस तीर्थ की पहिले प्रतिष्ठा की, किसने कहाँ तप किया, सारा इतिवृत्त लिखा हुआ है। इनमें से कई कथाओं का बड़ा महत्त्व है। उनमें पुराने इतिहास की झलक है। उदाहरण के लिए, काशी खन्ड में उस स्थान का चर्चा है जिसे आज भी अगस्त्य कुन्ड कहते हैं। वहाँ अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ महर्षि अगस्त्य रहते थे। एक बार विन्ध्याचल को इस बात पर बड़ा क्रोध आया कि हिमाचल मेरे सामने का लड़का है परन्तु देवगण ने उस पर अपने निवास स्थान बनाकर उसको व्यर्थ महत्त्व दिला दिया है। क्रोध में वह खड़ा हो गया। उसकी ऊँचाई ने सूर्य्य का दक्षिणायन मार्ग रोक दिया। कोई अन्य उपाय न देखकर देवगण उसके गुरु अगस्त्य के पास गये। उन्होंने काशी से सदा के लिए विदा ली और दक्षिण की ओर गये। विन्ध्य उनको प्रणाम करने के लिए झुका। उन्होंने उससे कहा कि जब तक मैं न लौटूं तब तक तुम ऐसे ही पड़े रहो। न वह लौटे, न पहाड़ खड़ा हुआ। भू गर्भ शास्त्र के अनुसार विन्ध्य सचमुच हिमालय से पुराना है। कथा में

उस समय की स्मृति सुरक्षित है जब आर्य्यों ने हिमालय को बनते देखा था। इस बात का भी पर्य्याप्त प्रमाण है कि सबसे पहिले अगस्त्य ही दक्षिण भारत गये थे। आज भी वहाँ यही अनुश्रुति है। इस बात की स्मृति भी इस कथा में है। सम्भव है अगस्त्य की यात्रा के पहिले विन्ध्य में कोई भारी ज्वालामुखी जैसा विस्फोट हुआ हो जिसकी ओर कथा में संकेत है। यह नितान्त नयी बात नहीं है। वैदिक काल मे भी नदियों और पर्वतों के अधिष्ठातृ देवताओं का समादर होता था। सरस्वती आर्य्यों के निवास क्षेत्र सप्तसिन्धव की पूर्वी सीमा थी। वह वैदिक देवता भी थी। आज भी सरस्वती की वैसी ही प्रतिष्ठा है। हम वीणा पुस्तक-धारिणी रूप में उनके सामने सिर झुकाते हैं। वेद में भी उनको, **चोदयित्री सूनृतानाम्, चेतन्ती सुमतीनाम्** (१, ३, ११) सत्य बात कहने की प्रेरणा करने वाली, सुमति का ज्ञान करानेवाली, कहा है। वेद में सरस्वती, भारती, इड़ा को '**तिस्रो देवीः**' (१०, ११०, ८) 'तीन देवियाँ कहा है, पौराणिक काल में ये तीनों नाम एक ही देवी के हो गये।

पूषा विष्णुर्हवनं मे, सरस्वत्यवन्तु सप्त सिन्धवः ॥
आपो वातः पर्वतासो, वनस्पतिः शृणोतु पृथिवी हवम् ॥ ८, ५५, ४।

'पूषा, विष्णु, सरस्वती, सातो नदी मेरे हवन की रक्षा करें। जल, वायु, पर्वत, वनस्पति और पृथिवी मेरे इस मंत्र पाठ को सुनें।' आज भी इस परम्परा का पालन होता है। विशेष पूजाओं के समय नदी, पर्वत आदि को पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए:

गंगे च यमुने चैव, गोदावरि, सरस्वति ।
नर्मदे, सिन्धु, कावेरि, जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥

'हे गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी, इस जल में सन्निधि करो, पूजा के लिए सामने रखे हुए इस जल में प्रवेश करो।'

ये पवित्र स्थल समस्त देश में फैले हुए हैं। हिमालय पर स्थित अमरनाथ, बदरी और केदार से समुद्रतटवर्ती पुरी, द्वारका और रामेश्वर तक विद्यमान ये तीर्थ भारत की एकता का सन्देश सुना रहे हैं।

देव परिवार में ऐसी बाढ़ आयी कि प्रतीत होता है कि उसने सारी पुरानी बातों को बहाकर फेंक दिया। परन्तु ऐसा पूर्णरूपेण न हो सका। आर्य्य जनता की सहस्रों वर्षों की अनुभूतियाँ यकायक नहीं मिटायी जा सकती थीं। कई पीढ़ियों की अनुभुतियाँ थीं, उनके रूप काल पाकर बदल जायँ पर सबकी सब स्मृति पटल पर से हट नहीं सकती थीं। पुराणकारों ने कई वैदिक गाथाओं और मंत्रों से काम लिया और उनको रूपान्तर देकर पुराणों में सन्निविष्ट किया। इसमें दो एक उदाहरण देना आवश्यक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक के तृतीय अनुवाक में कहा है :

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तेन प्रजापतिरश्राम्यत् कथमिदं स्यादिति।
सोऽपश्यत् पुष्करपर्णं तिष्ठत् सोऽमन्यत्।
अस्ति वै तत् यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति।

सो वराहो रूपं कृत्वोपमन्यमज्जत्।
स पृथिवीमध आर्च्छत्। तस्या उपहृत्यामज्जत्॥

'पहिले यह सब आप था, सलिल था। तब प्रजापति सोचने लगे यह कैसे होगा? तब उन्होंने कमल के पत्र को देखा। तब उन्होंने सोचा कि कुछ तो है जिस पर यह टिका है। उन्होंने वराह का रूप धारण करके डुबकी लगायी। उन्होंने नीचे पृथिवी को पाया। उसको लेकर ऊपर आये।'

पढ़ने से ही यह कथा परिचित सी लगती है। इसमें उस अवस्था का वर्णन है जब जगत् बनने वाला था, उस समय केवल आप या सलिल था। मैं सलिलका अर्थ पहिले लिख चुका हूँ। आप और सलिल, यह दोनों शब्द ऐसे अभागे हैं कि लोग इनका अर्थ जल कर दिया करते हैं। जिस समय सूर्य्यादि तैजस वस्तुएँ भी नहीं बनी थीं उस समय जल कैसे हो सकता था? कार्य्य से कारण नहीं बनता, जल से तेज नही बन सकता। इस वैदिक आख्यान से दो पौराणिक कथाएं निकली हैं। पुराणों के अनुसार जगत् के आदि काल में सर्वत्र सलिल था। उसमें विष्णु शयन कर रहे थे। काल पाकर उनकी नाभि से कमल निकला। उस पर ब्रह्मा जी बैठे थे। वह इस चिन्ता में हुए कि मैं क्या करूँ? तब उनको

तप करने की प्रेरणा हुई। तप करने पर उनको जगत् के निर्माण क्रम का ज्ञान हुआ। दूसरी कथा वाराह अवतार की है। हिरण्याक्ष नामक असुर पृथिवी को पाताल उठा ले गया। विष्णु ने वराह का रूप धारण करके जल में प्रवेश किया और पृथिवी को लेकर बाहर आये। इसमें प्रजापति की जगह विष्णु का नाम आया है और वैदिक आख्यान में हिरण्याक्ष का नाम नहीं है परन्तु कथाओं का साम्य स्पष्ट है। वराह और कमल जैसे शब्द तो लाक्षणिक हैं : किसी अर्थ विशेष में उनका प्रयोग हुआ है।

हमारे दार्शनिक वाङ्मय में वराह शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उस सारे विमर्श में जाना अप्रासंगिक होगा। पुराणों के अनुसार विष्णु ने यज्ञवराह का रूप धारण किया था। यज्ञवराह के शरीर में सभी यज्ञाग स्थित है। इस कथा का एक अर्थ यह हुआ कि पृथ्वी का उद्धार यज्ञ के द्वारा ही हो सकता है।

वामन अवतार की कथा भी वैदिक उपाख्यान की छाया है। राजा बलि असुर थे, इसलिए देवों से उनकी लड़ाई रहती थी। उन्होंने स्वर्ग जीत लिया था। विष्णु ने वामन रूप से उनसे तीन पाँव भर स्थान माँगा और इसी में तीनों लोकों को नाप लिया। इसी से उनका नाम त्रिविक्रम पड़ा। इन्द्र को स्वर्ग मिल गया। असुरों की जीत से जो धर्म्म विस्थापित हो गया था वह पुनः सुस्थापित हो गया। इस कथा का पूर्व रूप उस मंत्र में मिलता है जिसे हम पहिले उद्धृत कर चुके है :

> इदं त्रेधा विचक्रमे, विष्णुर्गोपा अदाभ्यः
> अतो धर्म्माणि धारयन् ।

'अजेय रक्षक विष्णु तीन पद चले और इस प्रकार उन्होंने धर्म्मों को धारण किया।' यहाँ बलि और वामन का नाम नहीं है परन्तु मुख्य रूप से कथा वही है। केरल प्रदेश में इसके आधार पर अब भी बहुत बड़ा उत्सव मनाया जाता है। इस का नाम ओनम है। वहाँ लोगों का विश्वास है कि बलि वहीं के राजा थे। जब उनको छलकर विष्णु ने उनसे उनका सारा राज्य ले लिया और उनको पाताल भेज दिया तो उन्होंने यह वरदान माँगा कि मैं साल में एक बार पृथ्वी पर आकर अपना राज्य देख लिया करूँ। उनकी यह बात मान ली गयी। उनके आने के

समय हर जगह धूमधाम होती है, रोशनी की जाती है, नाच गाना होता है। इस बात का पूरा प्रयत्न होता है कि उनका पूरा स्वागत हो और वह यह भाव लेकर पाताल लौटें कि मेरी प्रजा सुखी है।

परन्तु ऐसी कथाओं के साथ-साथ पुराणों में ऐसी कथाएँ भी दी गई हैं जिनका आधार वैदिक होते हुए भी प्रभाव अच्छा नहीं पड़ सकता। मैं इनमें से एक का संक्षेप में चर्चा करूँगा। यह ब्रह्मा जी के सम्बन्ध में है। कहा जाता है कि कामासक्त होकर उन्होंने अपनी पुत्री का पीछा किया और उसके गर्भ से आदित्य नाम का एक पुत्र हुआ। इसका मूल स्रोत ऋग्वेद (३, ३१, १) में है कि पिता ने अपनी कन्या में पुत्र उत्पन्न किया। ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसको यों समझाया है प्रजापति सूर्य्य* का नाम है। उनकी पुत्री उषा है। यह वह हल्की लालिमा है जो आकाश में सूर्य्योदय के पहिले छा जाती है। सूर्य्य उषा के पीछे दौड़ता है। आगे आगे प्रत्येक स्थान में उषा देख पड़ती है, पीछे सूर्य्य। फिर सूर्य्य का पुत्र, दिन, आता है।

यह प्राकृतिक दृग्विषयों के वर्णन हैं। वेद में इनको ऐसी भाषा में क्यों लिखा गया, मैं नहीं जानता। यदि ऐसे उपाख्यानों के कोई और गम्भीर अर्थ हैं जिन्हे ब्राह्मण ग्रन्थ भी नहीं समझ सके तो उन्हें मैं भी नहीं जानता। परन्तु ऐसा मेरा दृढ़ मत है कि इन कथाओं को पुराणों में नहीं देना चाहिए था। पुराण जन साधारण के लिए है। यह आशा करना कि लोग गम्भीर आध्यात्मिक अर्थ को समझ लेंगे या प्राकृतिक दृग्विषयों की बात समझ लेंगे दुराशामात्र है। एक ही परिणाम हो सकता था और वही हुआ भी। लोगों के मन में ब्रह्मा आदि के दुराचारी होने की बात बैठ गयी। यदि पुराणों का उद्देश्य धर्म्म का प्रचार हो तो ऐसी बातें उस उद्देश्य के विरुद्ध जाती हैं। जब जगत्स्रष्टा ब्रह्मा ऐसे नीच कर्म्म कर सकते हैं तो दूसरों का भला क्या कहना है? नैतिक दुर्बलता को ऐसी बातों से प्रश्रय मिलता है।

---

* प्रजापति की कथा के सम्बन्धमें मैंने जो लेख लिखा है उसका आधार स्वामी दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका है।

नवाँ अध्याय

पौराणिक काल की कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ

जब तक अवतारों का चर्चा न किया जाय तब तक उस काल की धार्म्मिक अवस्था का वर्णन अपूर्ण रह जायगा। अवतार का अर्थ है, नीचे उतरना। इस शब्द की परिभाषा इस प्रकार की जाती है :

देवानां विशेषतो विष्णोर्मूर्त्यन्तरेण पूर्णांशावशेषरूपेण पृथिव्यामवतरणम्

किसी देव, विशेषतः विष्णु, का अपने साधारण रूप से भिन्न रूप में पृथिवी पर इस प्रकार उतरना कि उसका पूर्णांश अवशिष्ट रहे, अवतार कहलाता है। यदि कोई देव पृथिवी पर अपने एक अंश से आता है और उसका शेष अंश उसके लोक में रह जाता है तो यह अवतार नहीं हुआ। यदि वह अपने सामान्य देह से आता है तब भी अवतार नहीं हुआ। विष्णु एक बार मछली के रूप में पृथिवी पर उतरे, यह उनका साधारण रूप नहीं है। जब वह यहाँ मछली के रूप में देख पड़ रहे थे उस समय भी उनके टुकड़े नहीं हुए थे। वह अपने पूर्णरूप से अपने लोक, बैकुण्ठ, में स्थित थे। इसलिए उनका इस प्रकार उतरना अवतार कहलाता है। अवतार तो किसी देव देवी का हो सकता है परन्तु जगत् के पालक और धर्म्म की मर्यादा के रक्षक होने के कारण विष्णु को बार बार अवतार लेना पड़ता है। अवतारों का लक्षण भगवद्गीता के इन शब्दों से व्यक्त होता है :

यदा यदा हि धर्म्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनाम्, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म्म संस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे ।।

'हे अर्जुन, जब जब धर्म्म का ह्रास और अधर्म का उदय होता है, तब तब साधुओं की रक्षा के लिए, दुष्टों के विनाश के लिए और धर्म के संस्थापन के लिए मैं अपने को उत्पन्न करता हूँ ।'

ऐसे समय तो सभी देशों में आते रहते हैं, इसीलिए कहा गया है कि विष्णु के अवतारों की संख्या नहीं है । जब जहाँ जैसी आवश्यकता पड़ती है तब वहाँ वह अपने को उस रूप में प्रकट करते हैं । अवतारों में चौबीस मुख्य माने गये हैं और इनमे भी दस प्रधान हैं । नव अवतार हो चुके हैं, दसवाँ, कल्कि, होने को है । वह कलियुग के अन्त के लगभग होगा । कलियुग की आयु ४,३२,००० वर्ष मानी जाती है जिसमे कि अभी ५,००० वर्ष बीते हैं । कल्कि के आने मे अभी सवा चार लाख वर्ष बाक़ी है ।

यद्यपि सब अवतार विष्णु के ही है परन्तु सबकी मर्य्यादा समान नहीं है । किसी में विष्णु की ४ कला, किसी में ८ कला अभिव्यक्त मानी जाती है; कृष्ण पूर्ण कला सम्पन्न हैं । दो अवतार, परशुराम और राम, समसामयिक थे पर इनमें राम की मर्य्यादा बड़ी थी । परशुराम रूपी विष्णु से रामरूपी विष्णु की वन्दना करायी गयी है । इसमें बेचारे पुराणकारों को क्या दोष दिया जाय ? वे दया के पात्र है । उन्होंने किसी बड़े का अपमान कराये बिना अपने प्रिय उपास्यों की बड़ाई करना सीखा ही नहीं । अवतारों की कथाओं में बहुत सी ऐतिहासिक घटनाएँ होंगी । इनमें से कुछ घटनाएँ तो सहस्रों वर्ष पूर्व की होंगी जिनकी झीनी सी स्मृति रह गयी होगी । राम और कृष्ण, विशेषतः राम, की जीवनकथा कई रूपों में मिलती है । धीरे धीरे उनका एक रूप स्थिर हो गया और प्रामाणिक मान लिया गया । इसका श्रेय बहुत कुछ बाल्मीकि जैसे महाकवियों को है ।

अवतारों, विशेषतः राम और कृष्ण, के इतिवृत्तों में सैकड़ों वर्षों का इतिहास भरा है । तत्कालीन भारत का एक सुन्दर सामाजिक, राजनीतिक

और धार्मिक चित्रण इन वृतान्तों में मिलता है। राम और कृष्ण अवतार रहे हों या न रहे हों परन्तु रामायण और महाभारत के ओजस्वी ग्रन्थ आर्य्य जाति की अक्षय निधि हैं और हमको सदा स्फूर्ति देते रहेंगे।

अवतारवाद कहाँ तक वेदसम्मत है, यह विवादग्रस्त प्रश्न है। ऐसी बहुत सी कथाएँ हैं जिनमें देव देवियों ने मनुष्यों की सदेह सहायता की है। परन्तु अवतारों की गतिविधि भिन्न है। जिन अवतारों की विशेष रूप से पूजा होती है वे पृथिवी पर थोड़ी देर के लिए नहीं आये। बरसों रहे, नर लीला की, पिता, पुत्र, पति जैसा आचरण किया, युद्धों में लड़े, हारे भी और जीते भी—सारा जीवन मानव स्तर पर बिताया। उनके जीवन मनुष्यों को पदे पदे प्रभावित करते हैं।

यह ठीक है कि अवतारों के आधार विष्णु हैं। उपासक यह जानता है परन्तु उपासना में रत होकर प्रतिक्षण अपने को इस बात की स्मृति नहीं दिलाया करता। व्यवहार में ऐसा हो गया है जैसे अवतार पृथक् देव हों, और देव परिवार में पीछे से सम्मिलित हुए हों। उनके पृथक् मन्दिर हैं। सच बात यह है कि विष्णु मन्दिरों की अपेक्षा राम और कृष्ण के मन्दिर अधिक हैं और साहित्य, संगीत, चित्रकला और मूर्तिकला पर विष्णु की अपेक्षा राम और कृष्ण का अधिक प्रभाव पड़ा है। शुद्ध विष्णु की अपेक्षा राम और कृष्ण की उपासना करनेवालों की संख्या भी अधिक है।

विष्णु तो वैदिक देव और देवता हैं ही परन्तु उनके अवतारों का चर्चा भला वेद में कहाँ मिल सकता है? उनका तो वेद के साथ सम्बन्ध विष्णु के माध्यम से ही हो सकता है, परन्तु उनके भक्तो को इससे सन्तोष नहीं हुआ। संहिता भाग के मंत्र गिने हुए है, उसमें प्रक्षेप करना कठिन होता है। परन्तु उपनिषद् भाग में ऐसा करना कुछ सुकर प्रतीत होता है। कुछ उपनिषद् तो सर्वसम्मत हैं, परन्तु उपनिषद् नाम की बहुत सी पुस्तकें हैं। इनमें से कई स्पष्ट ही पीछे से लिखी गयी हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि अवतारों के नाम से प्रसिद्ध रामतापनी, गोपालतापनी और नृसिंहतापनी इसी कोटि की उपनिषद् हैं।

अवतारों में मत्स्य और कूर्म्म दो जलचर, वराह बनचर, नृसिंह अर्द्ध बनचर, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि मनुष्य हैं। मनुष्यों में परशुराम, वामन और कल्कि ब्राह्मण हैं, राम, कृष्ण और बुद्ध क्षत्रिय। अवतारों के सम्बन्ध मे कई विलक्षण बातें कही जाती हैं। बुद्धदेव की गणना दस मुख्य अवतारों में हैं। यह मानना चाहिए कि वह धर्म्म की वृद्धि और अधर्म्म का क्षय करने आये थे। पुराणों में लिखा है कि असुरों ने वेदाध्ययन और यज्ञ-याग करना आरम्भ कर दिया। इससे उनको बल प्राप्त हुआ और उन्होंने देवों को परास्त कर दिया। यह कथा पहिले तो इतिहास की दृष्टि से असत्य है। बुद्ध को २५०० वर्ष हुए हैं। तब न तो पृथिवी पर देव थे, न असुर। अस्तु; कहा जाता है कि देवों की सहायता करने के लिए विष्णु भिक्षुक का रूप धर कर आये और अपने प्रवचनों में वेद और वैदिक कर्म्मकाण्ड की निंदा करने लगे। उनकी बातों से प्रभावित होकर असुर लोग वेद से परांङ्मुख हो गये। इससे उनकी शक्ति क्षीण हो गयी और देवों ने उनको पराभूत कर लिया। जिन लोगों ने इस कथा को गढ़ा उनके मस्तिष्क भी कैसे विकृत थे? जो लोग वैदिक कर्म्मों का अनुष्ठाम कर रहे थे वे क्या बुरा काम कर रहे थे! उनको हराने के लिये वेद का ही खंडन कर दिया गया। वेद कहता है **विष्णुर्वैयज्ञः**, विष्णु यज्ञ स्वरूप हैं, उन्होंने ऐसा निंद्य कर्म्म क्यों कर डाला? व्यक्ति का कर्म्म देखा जाता है, उसका सुर या असुर होना उसकी भलाई बुराई की कसौटी नहीं हो सकता। यदि असुर होना ही मनुष्य को दूषित बना देता है तो प्रह्लाद भी तो असुर था। उसकी सहायता के लिए विष्णु ने नृसिंह रूप क्यों धारण किया था? वेद की मर्य्यादा को नष्ट करके बुद्ध रूपी विष्णु ने पृथिवी के भार को बढ़ाया या हल्का किया?

साधारणतः कृष्ण की गणना अवतारों में है परन्तु परम भक्त जयदेव, उनको भगवान् मानते हैं और कहते हैं **केशवधृत हलधर रूप**—केवश ने हलधर बलराम, के रूप में अवतार लिया।

मत्स्यावतार की कथा में पृथ्वी के भौगोलिक इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण अध्याय की ओर संकेत देख पड़ता है। आज से कई सहस्र वर्ष पहिले पृथ्वी के बहुत बड़े भाग पर लगातार बहुत दिनों तक भयंकर वर्षा हुई और बहुत बड़ा

भूभाग जल में निमग्न हो गया। कई देशों में ऐसी अनुश्रुति है, धर्म्मग्रन्थों में भी इसका चर्चा है। बाइबिल के अनुसार चालीस दिन रात वर्षा होती रही। मत्स्यावतार की कथा में वर्षा का उल्लेख नहीं है, जलप्लावन का है। कुछ विद्वानों का मत है कि पहिले किन्ही कारणों से उन देशों में जिनसे बाइबिल का सम्बन्ध था वर्षा हुई फिर इस असाधारण वृष्टि से समुद्र का जल बढ़ा और उसने उन देशों को डुबा दिया जिनका परिचय पुराणकारों को था। सम्भवतः उसी उथल पुथल में राजपुताना का भूतल ऊँचा हो गया और राजस्थान के समुद्र की जगह मरुस्थल हो गया। जलप्लावन का इतना व्यापक वृत्तान्त मिलता है कि यह किसी की कल्पना नहीं वास्तविक घटना प्रतीत होती है।

पुराणकाल में धीरे धीरे पाँच देवों को प्रधानता मिली, अतः लोग पञ्चदेवोपासक कहलाने लगे। यह हैं, विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य्य और गणेश। विष्णु के अंतर्गत उनके अवतार भी हैं। पञ्चदेवोपासक नाम अब भी चला आता है परन्तु आजकल वस्तुतः त्रिदेवोपासक कहना अधिक ठीक होगा। पृथक् गाणपत्य और सौर सम्प्रदायों का प्रायः लोप हो गया है। गणेशोपासक शैवो में और सूर्य्योपासक वैष्णवों में मिल गये है। इसलिए व्यवहार में विष्णु, शिव और शक्ति तीन ही हैं, यों गणेश और सूर्य्य सब के ही मान्य है।

इतने उपास्यों की सृष्टि होने पर उपासना पद्धति में परिवर्तन होना अनिवार्य्य था। देवो से प्रार्थनाएँ अब भी की जाती थीं, पर ये प्रार्थनाएँ वेद मंत्रों से बहुत भिन्न थीं। जैसा कि पहिले कहा जा चुका था है, मंत्र केवल व्याकरणसम्मत वाक्य नही है, वे ध्वनियों के समूह है। यदि ठीक ठीक उच्चारण करके ध्वनि विशेष प्रसारित की गयी तो वह शक्ति के समूह को आलोड़ित करेगी ही, शक्तिविशेष जागेगी ही, फलविशेष होगा ही। मंत्र निष्फल जा ही नहीं सकता। उसकी फलप्राप्ति के लिए तपस्या अपेक्षित है। परन्तु पौराणिक काल मे दूसरा मार्ग अपनाया गया। किसी ने यह नहीं कहा कि तपस्या बुरी चीज है। कहा यह गया कि कलियुग के मनुष्यों से तप सपड़ नहीं सकता। भारत में पुरानी बातों को यों ही हटाया जाता है। उनको बुरा नहीं कहते, यह कहते हैं कि आजकल के मनुष्यों में योग्यता की कमी है। अस्तु, जब तप नहीं करना है तो वेद मंत्रों की सिद्धि कैसी होगी? उनको छोड़ दिया गया और देवों से

सीधे प्रार्थना करने का मार्ग अपनाया गया। एक नये प्रकार के स्तोत्र साहित्य का जन्म हुआ। स्तोता को अपने स्तोत्र के शब्दों में निहित किसी शक्ति विशेष का भरोसा नहीं था, अपनी श्रद्धा, अपनी अनन्यता, का भरोसा था। मंत्र का प्रभाव अनिवार्य था, स्तोत्र में यह बल नहीं था परन्तु जिसकी स्तुति की जा रही थी उसकी उदारता और दयालुता पर अटूट विश्वास था।

देव और असुर एक दूसरे से बहुत दूर नहीं रहते, जहाँ देवों का चर्चा होगा वहीं असुरों का भी चर्चा मिलेगा। उनमें आपस का सम्बन्ध भी है। महर्षि कश्यप की दनु और दिति नाम की पत्नियों के अपत्य दानव और दैत्य हैं, अदिति की सन्तति आदित्य हैं। एक दूसरे के सौतेले भाई हैं। शक्ति भी समान है। अन्तर इतना ही है कि असुर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके लोगों को सताते हैं, सत्कर्म्मों में बाधा डालते हैं। इन बातों की ओर वैदिक वाङ्मय में भी संकेत है परन्तु पुराणों में संकेत का विस्तार करके रोचक कथाएँ बन गयी हैं। निश्चय ही इन कथाओं में से कइयों का आधार उस काल की लोकानुश्रुत पुरानी वीर गाथाएँ होंगी।

देवासुर संग्राम सम्बन्धी कई कथाएँ रोचक ही नहीं, बहुत उपदेशप्रद हैं और उनसे प्रतीत होता है कि कथाकार का मनोवैज्ञानिक ज्ञान बहुत गम्भीर था। उदाहरण के लिए, महिषमर्दिनी की कथा लीजिए। महिषासुर बलवान् असुर था। उसने देवों को परास्त किया था। उससे त्रस्त होकर देवगण भागे फिरते थे। जब उनको कोई आश्रय नहीं मिला तब घबराकर देवगुरु बृहस्पति की शरण में गये। उस घोर विपत्ति के समय उनके शरीरों से तेज निकला। सब तेज एकत्र होकर नारी रूप हो गया। उससे महिष का युद्ध हुआ और वह मारा गया। इसी विग्रह को महिषमर्दिनी कहते हैं। महिष के बध के बाद देवों ने स्तुति की। उसमें उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछा और स्वयं उसका उत्तर भी दिया। प्रश्न यह है :

> दृष्ट्वा हि किं न भवती प्रकरोति भस्म।
> सर्वासुरानरिषु यत्प्रहिणोषि शस्त्रम्॥

'आपने इनको देखकर ही क्यों नही भस्म कर दिया कि इन असुरों पर शस्त्र चलाया।' और उत्तर इस प्रकार है :

> एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते,
>
> कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम्।
>
> संग्राममृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्तु,

'इनके मारे जाने से जगत् को सुख हो और यह भी, चाहे कितना भी नरक ले जाने वाला पाप करते रहे हों, इस समय युद्ध में आप के हाथ से सम्मुख मारे जाकर स्वर्ग को जाँय।' स्तुति में कहा भी है : **चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा त्वय्येव देवि**—हे देवि, युद्ध में निष्ठुरता के साथ चित्त मे कृपा आप में ही देखी गयी है।

इस कथा में कई गम्भीरार्थक बातें कही गयी हैं। कथा के आरम्भ में कहा गया है कि महिष घोर तपस्वी था पर उसकी तपः प्राप्त शक्ति अनर्थ की ओर लगी। पुराने साहित्य में महिष क्रोध का प्रतीक माना जाता है।[1] काम या क्रोध जैसी प्रवृत्ति बड़े से बड़े साधक को तपोभ्रष्ट कर देती है। अस्तु; देवगण महिष से लड़ चुके थे, इन्द्र, विष्णु, रुद्र सभी अपने अपने बल की परीक्षा कर चुके थे पर हार गये थे। जब तक अपने बल का अभिमान था किसी से कुछ न

---

१. नीचे का श्लोक कुछ प्रतीकों की सूची देता है : यह किसी तंत्र ग्रंथ में आया है;

> आजं मेषैश्च मार्जारैः नारैरौष्ट्रैश्च माहिषैः।
> पलैरेभि यंजेद्यस्तु, स मुक्तो नात्र संशयः॥

'बकरे, भेड़, बिल्ली, मनुष्य, ऊँट और भैसे के मांस से यज्ञ करने वाला मुक्त होता है।' यहाँ इन पशुओं के मांसों से क्रमशः काम, मोह, लोभ, अभिमान, मत्सर और क्रोध की प्रवृत्तियों से तात्पर्य्य है। इन मांसों से यज्ञ करने का अर्थ है इन प्रवृत्तियों को संयम की आग में भस्म कर देना।

करते बना। हार के बाद जब दुर्गति हुई तब गर्व चूर्ण हुआ। गुरु की शरण में गये, सद्बुद्धि आयी और उनके सम्मिलित प्रयत्न ने महिष को हराया। वही तेज जो पहिले निष्फल हो चुके थे जब सचमुच मिले तो उनकी विजय हुई।

कथा का रहस्य यहीं समाप्त नहीं होता। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी, विचार करना चाहिए। देव और असुर एक दूसरे के भाई हैं, एक ही पिता की सन्तान हैं। चित्त की सत्प्रवृत्तियाँ देव हैं और असत्प्रवृत्तियाँ असुर हैं। चित्त की दोनो ही सन्तान हैं। कभी दुष्प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठती हैं और सत्प्रवृत्तियों को दबा लेती हैं। जिन लोगों को अपने धर्म्मात्मा होने का अभिमान होता है वह भी धोखा खा जाते हैं। पापमूलक प्रवृत्तियाँ उनको दुर्गति में डाल देती हैं। ठोकर खाकर जब अभिमान गलित होता है तब पराशक्ति को पुकारते हैं, दुष्प्रवृत्तियों का दमन होता है, फिर चित्त स्वस्थ होता है और देवों की विजय होती है। परन्तु दुष्प्रवृत्तियों का क्या होता है?

उनकी बुराई चली जाती है परन्तु रूप बदल कर उनमें निहित बौद्धिक शक्ति अच्छे कामों में लगती है। दुष्प्रवृत्ति सत्प्रवृत्ति बन जाती है, असुर देव बन जाते हैं। क्रोध विनाशकारी होता है परन्तु यदि अन्याय, अधर्म्म उसका लक्ष्य बन जाय तो वह कल्याणकारी हो सकता है। इसी प्रकार काम-वासना ऊँचे साहित्य का प्रेरक बन सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान इस प्रक्रिया को उन्नयन कहता है।

चित्त में कृपा रखते हुए समर में निष्ठुरता—यह उस निष्काम कर्म्म का स्वरूप है जिसकी शिक्षा श्रीकृष्ण ने गीता में दी है। पाप से घृणा करते हुए भी पापी पर दया, आततायी के सच्चे हित का ध्यान रखते हुए भी उसका विरोध करना ताकि जगत् के साथ उसका भी कल्याण हो, कर्म्मयोगी का यही मार्ग है।

ज्यों-ज्यों पुराणों में कलियुग के निकट आते-आते हैं, त्यों त्यों असुरों की जगह राक्षसों का चर्चा आता जाता है। राक्षस प्रायः मनुष्यरूपधारी होते थे।

ऐसा लगता है कि इन सब युद्धों के वर्णनों के पीछे ऐतिहासिक घटनाओं का चर्चा है। अपने शत्रुओं को असुर या राक्षस कह दिया गया हो परन्तु सम्भवतः

आर्य्य लोगों को किन्हीं प्रबल शत्रुओं से लड़ना पड़ा होगा। कुछ लड़ाइयाँ सौ दो सौ वर्षों तक चली होंगी। हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, बलि, विरोचन, यह इस देश का कोई शक्तिशाली राजवंश रहा होगा। इनको असुर या जो कुछ कहा जाय परन्तु इस कुल में कई ख्यातनामा तपस्वी और पराक्रमी योद्धा हुए हैं। इसी प्रकार राक्षस वंश में भी जहाँ विभीषण जैसे पतित जीव हुए है वहाँ रावण जैसे महापंडित और वीरों ने भी जन्म लिया था। कलियुग में न असुर हैं न राक्षस। कंस, जरासंध, दुर्योधन—जिन लोगों की निन्दा की गयी है वह सभी मनुष्य थे।

पौराणिक साहित्य पर चाहे जो दोष लगाये जायँ, और दोष लगाना अनुचित न होगा, पर वह बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है। उसने हमारे देश और समाज के सहस्त्र वर्षों की परम्पराओं को सुरक्षित रक्खा है। वैदिक काल की बहुत-सी बातें पुराणों के प्रकाश में ही समझ में आ सकती है। जहाँ वेद में एक या दो पंक्तियाँ है वहाँ पुराणों मे कई-कई पृष्ठ मिलते हैं। यह सब कहानियाँ पुराणकारों ने गढ़ ली हों, ऐसा भी नही है। सैकड़ों वर्ष पुरानी घटनाओं को जनता ऐतिहासिक रूप से नहीं जानती। इतिहास भूल जाता है। कुछ घटनाओं की विकृत स्मृति रह जाती है, नयी बातें जुड़ जाती है। हमारे सामने राजा भोज और विक्रमादित्य के सम्बन्ध मे जो कुछ सुनने मे आता है उसमें कितना ऐतिहासिक तथ्य है? पुराणकारों को बहुत अवसरो पर ऐसी ही लोक मे प्रचलित अनुश्रुतियों का सहारा लेना पड़ा होगा। छानबीन करने का कोई साधन नहीं था। यदि उन कहानियों को लिख न लेते तो प्राचीन काल का इतिहास शून्यवत् रह जाता। भला कुछ व्यक्तियों के नाम तो रह गये है।

पुराणों ने हमारे सामने स्त्रियों और पुरुषों के कई स्मर्तव्य चित्र रखे हैं। राम, कृष्ण, परशुराम, भीष्म, अर्जुन, कर्ण, सीता, सती, सावित्री, विश्वामित्र को आर्य्य जाति कब भुला सकती है? इनके चरित्र दूर हो जायँ तो भारत का अपनापन ही खो जायगा। पितृ भक्ति, मातृ भक्ति, दाम्पत्य प्रेम, त्याग, आत्मबलि के अद्‌भुत और रोमांचकारी आदर्श मनुष्य जाति के सामने रखे गये हैं। भगवान् के प्रति श्रद्धा और आत्मसमर्पण के अद्वितीय उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। वैदिक उपासना शैली में एक कमी प्रतीत होती है, उसमें कोमल

भावनाओं के लिए कम स्थान है। पुराणों ने वह कमी दूर कर दी है। उन्होंने मस्तिष्क के साथ हृदय को जगह दिया है और उपास्य के साथ प्रेम, स्नेह, अपनापन, करना सिखाया है।

मेरे इस लिखने का यह तात्पर्य्य नहीं है कि वेदों में शुष्क दर्शन और कर्म्मकाण्ड या कोरी तपस्या का चर्चा है, भावनाओं के लिए स्थान नहीं है। यह धारणा भ्रान्त होगी। जैसा कि हमने पहिले कहा है, देवगण पुरा कल्प के वह तपोनिधि है जो जीवों के कल्याण के लिए अपने समाधि सुख को छोड़ कर सूक्ष्म शरीर धारण करते हैं। वह बड़े भाई की भाँति हाथ पकड़कर धर्म्म मार्ग पर ले चलते हैं। भर्त्सना करते हैं, दंड देते हैं, पुचकारते हैं, पुरस्कार देते हैं, पर भले के लिए। सहायता उसी को दी जा सकती है जो सहायता लेना चाहे। जो हठ से देवों के अनुशासन का बराबर लंघन करता रहता है वह अपनी क्षति तो करता ही है, दूसरों की भी हानि करता है। जो सहायता के लिए स्वयं हाथ बढ़ाता है वह देवकार्य्य को आगे बढ़ाता है और सहाय्य पाता है। विश्वास, निष्ठा, स्नेह, वह भावनाएं हैं जो देवों को अपनी ओर प्रवृत्त करती हैं। ऐसी भावनाएं कई मंत्रों में व्यक्त होती हैं।

साधक कहता है **त्वं पितासि नः** (१, ३१, १०)। 'तुम हमारे पिता हो।' **पितेव नः शृणुहि हूयमानः** ।(१, १०४, ९), 'हमारे पुकारने पर, हमारी बात पिता की भाँति सुनो।'

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। ८, ९८, ११।

'तुम ही हमारे पिता, तुम ही माता हो।'

इस मंत्र में शतक्रतु अर्थात् इन्द्र को सम्बोधित किया गया है। इसकी ही छाया उस श्लोक में देख पड़ती है जो आजकल बहुत प्रचलित है :

त्वमेव माता च पिता त्वमेव ,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

यह बन्धु और सखा भाव भी कई जगह व्यक्त हुआ है :

शुचिस्त्वमसि प्रियो न मित्रः ।९,८८, ९ ८ ।

'तुम पवित्र, निष्काम, निः स्वार्थ, मित्र की भाँति प्रिय हो ।' जिस कान्त भाव की अभिव्यक्ति मीरा के पदो में मिलती है उसको रस भी वेद में है :—

पतिं न पत्नीः उशतीरुशन्तं,
स्पृशन्ति त्वा शवसावन् मनीषा । १, १६२, ११ ।

'हे इन्द्र, मेरे विचार तुमको इस प्रकार स्पर्श करते हैं जिस प्रकार प्रेम करने वाली पत्नियाँ अपने प्रेम करने वाले पति को स्पर्श करती हैं ।'

चैतन्य महाप्रभु ने ईश्वर को स्त्री और उपासक को पुरुष रूप में देखा था । इसकी भी झलक मिलती है :

मर्यो न योषामभि मन्यमानः । ४, २०, ५ ।

'मैं तुमको प्राप्त करके वैसा ही फूला नही समाता जैसा कि कोई युवा अपनी अभीप्सित युवती को पाकर होता है ।' सूरदास जी जैसे महात्मा अपने भगवान् के साथ सख्यभाव बरतते है, रूठ जाते है, उलाहना देते है, उसका भी उदाहरण देखिए :

यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा स्याऽहम् ।
सुष्टे सत्या इहाशिषः ॥ ८, ४४, २३ ।

'हे अग्नि, यदि मैं तुम्हारी जगह होता और तुम मेरी जगह होते, तो में तुम्हारी प्रार्थनाएं स्वीकार कर चुका होता ।'

उपासक की पुकार व्यर्थ नहीं जाती। वह चिढ़कर भी बात करे तब भी देवगण उसके हृदय को पहिचानते हैं, इसीलिए उनको सुहव—जल्दी पुकार सुनने वाले—कहा गया है। इसीलिए जब उनसे यह माँग की जाती है:

देहि नु मे यन्मेऽदत्तोऽसि,

'जो कुछ तुमने मुझे अभी नहीं दिया है, वह तो दो।' वह कहते हैं:

समानो बन्धुः : युज्यो मे सप्तपदः सखासि

'हाँ, हम दोनों बन्धु हैं : हम तुम एक ही पथ पर साथ-साथ चलने वाले सखा हैं।' यह साथ चलनेवाली बात महत्त्व की है। देवगण जीव को अपनी ही भाँति धर्म्ममार्ग पर ले चलना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में इन्द्र की उक्ति भी स्पष्ट है:

मां हवन्ते पितरं न जन्तवो,
अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्। १०, ४८, १।

'सब जन्तु मुझे पिता की भाँति पुकारते हैं। मैं 'दाशुषों' में भोज्य सामग्री को बाँटता हूँ।'

दाशुष का अर्थ है देने वाला। जो दीन-दुखियों की सहायता नहीं करता परन्तु अपने लिए सब कुछ चाहता है उसकी याचना स्वीकार नहीं हो सकती। जो धर्म्म पथ पर चलता है, दूसरों को देता है, देवगण उसकी ही सहायता करते हैं।

यों तो श्रद्धा से माँगनेवालों को सभी कुछ मिलता है परन्तु देवों का मुख्य दान तो ज्ञान दान है। मनुष्यों को कई विद्याएँ देवों से प्राप्त हुई हैं। रुद्र को **ईशानः सर्व विद्यानामीश्वरः सर्व भूतानाम्**—सब विद्याओं का स्वामी और सब प्राणियों का ईश्वर कहा गया है। वैद्यक शास्त्र के आचार्य इन्द्र थे। परन्तु सब से मूल्यवान ज्ञान तो वह है जिसका सम्बन्ध धर्म्म और मोक्ष से है। अधिकारी

को वह भी देवगण सहर्ष प्रदान करते हैं। इन्द्र से इस प्रकार का उत्कृष्ट ज्ञान पाकर, एक ऋषि कहता है :

अहमिद्धि पितुः परिमेधाम् ऋतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य्यं इवाजनि ।।

'मैंने पिता से ऋत का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है। मैं सूर्य्य के समान देदीप्यमान हूँ।' †

फिर भी यह ठीक है कि स्वर्गलोक और मर्त्यलोक के बीच पुल बांधने का पुराणों में प्रशसनीय प्रयत्न हुआ है और वह प्रयत्न सफल भी हुआ है। उन्होंने एक प्रकार से स्वर्ग को पृथिवी पर उतारा है।

इस पौराणिक काल में देव परिवार में तो जो उथल-पुथल हुए वह हुए, परन्तु मनुष्य का स्तर बहुत ऊँचा उठा। राजनीतिक और आर्थिक अवस्था अनुकूल थी। देश स्वतंत्र और शक्तिशाली था, शासन की ओर से वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे बहुत कम हस्तक्षेप होता था, व्यापार और व्यवसाय उन्नतिशील थे, लोग सम्पन्न थे। साहित्य, संगीत और दूसरी कलाओ का चर्चा था। मनुष्य, और उस पर भी भारतीय, होना गर्व की बात थी। बुद्ध और तीर्थंकर मनुष्य थे। राम, कृष्ण मनुष्य थे। मनुष्य होते हुए इन महाभागो ने वह पद पाया था कि देवगण भी इनके सामने सिर झुकाते थे। इस विषय की बहुत सी आख्यायिकाएं थीं। इनके प्रसाद से मनुष्य योनि धन्य हो गई थी। पुराणों में मनुष्य की महत्ता दिखाने वाली कई कथाएँ हैं। उनमें से उदाहरणार्थ एक देता हूँ।

च्यवन मुनि का विवाह राजपुत्री सुकन्या से हुआ था। वह अन्धे हो गये थे। एक बार उनके आश्रम पर अश्विनी कुमार आये। यह दोनो भाई वैदिक वाङ्मय में अपनी परोपकार वृत्ति के लिए प्रसिद्ध है। हर प्रकार के भूले-भटकों

---

† वेदान्त केसरी में डा० राघवन के एक लेख पर आधारित

और विपन्नों की सहायता करते रहते हैं। पौराणिक काल में अन्य वैदिक देवों की भाँति यह भी नीचे गिरा दिये गये। देव लोक के वैद्य मात्र रह गये। अस्तु, इन्होंने च्यवन को अच्छा कर दिया। उन्होंने पारिश्रमिक रूप से कुछ देना चाहा। पहिले तो इन्होंने नहीं किया फिर उनके बहुत आग्रह करने पर यह माँगा कि अब हमको पुराकाल की भाँति यज्ञ भाग नहीं मिलता, फिर से मिलने का प्रबन्ध कर दीजिए। च्यवन ने वचन दिया। कुछ दिनों के बाद उनके श्वसुर ने महायज्ञ का अनुष्ठान किया। च्यवन उसमें पुरोहित हुए। देवगण अपना भाग लेने के लिए प्रत्यक्ष उपस्थित हुए। अश्विनी कुमारों को भीतर आने का तो साहस नहीं हुआ, बाहर खड़े रहे। देवो को यथाक्रम भाग देकर च्यवन ने अश्विनी कुमारों के लिए मत्र पढ़ा। इन्द्र ने इस पर आपत्ति की कि उन लोगों को हमारे बराबर स्थान नहीं मिल सकता। च्यवन ने न माना तो इन्द्र ने उनको मारने के लिए वज्र उठाया। च्यवन ने मंत्र पढ़कर अग्नि में हवि डाली। उसमें से एक भीमकाय दैत्य निकल कर इन्द्र की ओर बढ़ा। उधर इन्द्र का वज्रधर हाथ स्तब्ध हो गया। डरकर उन्होंने दूसरे देवों से सहायता माँगी। विष्णु आदि सब ने कह दिया कि हम कुछ नही कर सकते। तुम्हारा त्राण च्यवन ही कर सकते हैं। विवश होकर इन्द्र को च्यवन की शरण जाना पड़ा और क्षमा माँगनी पड़ी। च्यवन ने उनको अभयदान देकर उस अग्निजात दैत्य को नष्ट कर दिया और अश्विनी कुमारों को पुनः यज्ञ भाग मिलने लगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि किन्हीं कारणों से अश्विनी को यज्ञभाग मिलना बंद हो गया था। च्यवन के प्रयत्न से फिर पूर्ववत मिलने लगा। परन्तु यह तो गौण बात है। प्रधान बात तो यह है कि एक मनुष्य के सामने न केवल देवराज इन्द्र प्रत्युत विष्णु आदि त्रिदेव का भी वश नहीं चला। ऐसी कथाओं में ऐतिहासिक तथ्य जो भी हो, परन्तु इनसे मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ती है और उसका आत्मविश्वास बढ़ता है। ऐसी कई कथाएँ हैं जिनमें कहा गया है कि देवासुर संग्राम में देवों की सहायता करने के लिए अमुक राजा बुलाकर गये। इस प्रसंग में दशरथ, दुष्यन्त, मुचकुन्द के नाम लिए जाते हैं। कई वार ऐसा हो गया है कि अमुक के तप से देवासुर घबरा उठे। अब मनुष्य की यह गर्वोक्ति सच हो रही थी :

मनुष्यः कुरुते यत्तु, तन्न शक्यं सुरासुरैः ।

इस काल में देवों के सम्बन्ध में कई सुन्दर कल्पनाओं का उदय हुआ। इनमें कुछ तो कवियों की कृतियां हैं। इनके पीछे दार्शनिक सिद्धान्त और शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ कवि का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण काम कर रहा है, कुछ में उसकी व्यापक सहानुभूति अपनी छटा दिखला रही है और कुछ में वह तात्कालिक अतीन्द्रिय अनुभूति व्यक्त हो रही है जो कवि को योगी के अतीन्द्रिय अनुभव क्षेत्र का निवासी सिद्ध करती है। ऐसी भी कल्पनाएँ हैं जिनका उदय लोकबुद्धि में हुआ है। इनमें स्यात् सबसे सुन्दर कल्पना शिव-पार्वती की है। लोकबुद्धि शिव के रुद्र रूप को याद नहीं करती। उसने शिव का स्वयं एक चित्र बना लिया है। गांव की चौपाल में बैठिए, या घर के भीतर वृद्धा नाती-पोतों को कहानी सुना रही हो, वही चित्र देखने को मिलेगा। शिव-पार्वती नरवेष में घूमते रहते हैं और दीन-दुखियों की सहायता करते रहते हैं। उनके कृपा पात्र साधु, महात्मा ही होते हों ऐसी बात नहीं है। जो उनके दरबार में पहुँच जाय, जिसकी पुकार कान में पड़ जाय, उसकी सुनी जायगी, चाहे वह कैसा भी हो। बड़ी और छोटी, सभी बातों में समान रूप से अभिरुचि लेते है। जिस चाव से देवों की समस्यायें सुलझायी जाती हैं उसी प्रकार पति-पत्नी की पंचायत की जाती है। इनमें से बहुत-सी कहानियों में ग्रामीणो की सहज हास्य प्रवृत्ति फूट पड़ती है। तुलसीदास जी ने शंकर के इस रूप का विनय पत्रिका में बहुत अच्छा वर्णन किया है :

बावरो रावरो नाह, भवानी,
दानी बड़ो दिन देत दिए बिनु वेद बड़ाई भानी।

निज घर की बर बात विलोकहु, हौ तुम परम सयानी।।
जिनके भाल लिखी र्नाह मेरी, सुख की नेकु निसानी।

तिन रंकन को नाक संवारत, हो आयों नकवानी।।
दुखी दीनता दुखियन के दुख याचकता अकुलानी।

यह सम्पदा सौपिये औरहि, भीख भली मैं जानी।।
विनय सनेह विनोद व्यंगयुत, सुनि विधि की बरबानी।
तुलसी मुदित महेस मर्नाह मन जगतमातु मुसकानी।।

विद्वानों के सामने एक समस्या थी। देव-देवियों की बहुतायत थी परन्तु वह यह नहीं चाहते थे कि लोग जगत् के निमित्तोपादानकारण पराशक्ति-युक्त परमात्मा को भूल जाँय। इस सूक्ष्म तत्त्व को भी स्थूल साँचे में ढालना था और उस काल की परम्परा के अनुसार मानवाकृति में उतारना था। इसके लिए उन्होंने लक्ष्मी-नारायण युगल मूर्ति की कल्पना की। लक्ष्मी और नारायण एक दूसरे से कभी पृथक् नहीं होते, अच्छेद्य और अच्छिन्न हैं। विष्णु वेद में व्याप्त है ही, लक्ष्मी मूल संहिता में नहीं तो ऋग्वेद के खिल सूक्तों में विद्यमान हैं। वहाँ उनको हिरण्यवर्णा, अनपगामिनी आदि विशेषण दिये गये हैं। क्षीर सागर शुद्ध सत्व गुण का प्रतीक है, उसमें शेष शय्या पर विष्णु सोये रहते हैं। पर इस चित्र में एक दोष है। लक्ष्मी की विष्णु से पृथक् सत्ता है और वह विष्णु के अधीन हैं। बहुधा तो वह विष्णु के पाँव दबाती दिखलायी जाती हैं, कहीं-कहीं पंखा झल रही होती हैं। दोनों ही अवस्थाओ में पृथक् हैं और परिचारिका या दासी न सही परन्तु किसी न किसी प्रकार सेविका तो है ही। पत्नी का पद पति से तो छोटा माना ही जाता है।

यह कमी खटकने वाली है। इस उद्देश्य से जो दूसरा चित्र बनाया गया है वह अद्भुत् है। मेरी जानकारी में विश्व वाङ्मय से इस विषय की इतनी सुन्दर कल्पना नहीं है। मेरा तात्पर्य अर्द्धनारीश्वर विग्रह से है। आधा शरीर पुरुष, आधा स्त्री का, आधे में महेश्वर, आधे में उमा। दोनो पृथक् हो ही नहीं सकते क्योंकि अलग होकर प्रत्येक आधा, अपूर्ण, निर्जीव है। एक ही शरीर के दो आधे हैं, इसलिए उनमें बड़े छोटे का प्रश्न नहीं उठता। कालिदास ने रघुवंश में शिव पार्वती को **वागर्थाविव सम्पृक्तौ**, वाणी और अर्थ के समान मिले हुए, कहा हैं। यह मूर्ति उसी भाव की प्रतिकृति है। परमात्मा और पराशक्ति का सम्बन्ध तो ऐसा है कि उपनिषद् के शब्दों में, वहाँ से '**वाचो निवर्तन्ते**, अप्राप्य **मनसा सह**'—न बुद्धि की पहुँच होती है, न वाणी की, परन्तु यदि कवि या चित्रकार उसकी अभिव्यक्ति करना ही चाहे तो उसकी कल्पना की उड़ान इससे आगे नहीं जा सकती।

दो शब्द ईश्वर के सम्बन्ध में भी कहना आवश्यक है। मंत्रों की मीमांसा करके यह दिखलाया जा सकता है कि उनमें से कई ईश्वरपरक हैं परन्तु ईश्वर

या परमात्मा की ओर प्रत्यक्ष संकेत कम ही है। ईश्वर शब्द जहाँ आया है, वहाँ रुद्र के लिए आया है। यज्ञों के प्रसंग में ईश्वर का चर्चा करने की विशेष आवश्यकता भी नहीं है। परन्तु इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि उल्लेख है ही नहीं :

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।।
। यजुः ३१, १८ ।

'मैं तम के पार रहने वाले तेजोमय इस महान् पुरुष को जानता हूँ। उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु के पार जाता है। सद् गति के लिए दूसरा मार्ग नहीं है।'

योऽस्याध्यक्ष परमे व्योमन् । ।१०, १२९, ४ ।

'इस जगत् का अध्यक्ष जो परम व्योम में रहता है :'

यो भूतं च भव्यं च, सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्व यस्य च केवलं, तस्मै श्रेष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।

'जो भूत भविष्य और वर्तमान तीनो कालों का स्वामी है, जो केवल आनन्द स्वरूप है, उस ज्येष्ट ब्रह्म को प्रणाम है।'

उसके सम्बन्ध में कहा है :

य आत्मदा बलदा, यस्य विश्व उपासते, प्रशिषं यस्य देवा,
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः..... । १०, १२१, २ ।

'जो आत्मा अर्थात् ज्ञान विज्ञान देने वाला है, जो बल देता है, सारा विश्व जिसकी उपासना करता है, देवगण जिसकी आज्ञा में रहते हैं, अमृतत्व अर्थात् देवपद और मृत्यु जिसकी छाया है।'

परमात्मा स्वयं कहता है :

> अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभि :।
> यो मा ददाति स इदेव भावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

'मैं ऋत से भी पहिले से हूँ, देवो से पूर्व हूँ, अमृत की नाभि हूँ। जो मनुष्य मुझको देता है वह इस प्रकार रक्षा करता है, मैं अन्न हूँ, अन्न खाने वाले को खा जाता हूँ।'

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, जगत् के पुनर्विकास, अर्थात् संकोच के बाद पुन: आविर्भाव के पहिले ही ऋत और सत्य प्रकट होते हैं। यह वह शाश्वत नियम हैं जो भौतिक और आध्यात्मिक जगत् का नियंत्रण करते हैं। यहाँ अकेले ऋत का नाम लिया गया है परन्तु सत्य भी संकेत से आ गया है। परमात्मा ऋत सत्य और देवों से भी पहिले से है, उन सबका साक्षी है। वह अमृत की नाभि है, स्रोत है, भंडार है। अमृत वह पद है जो जीवन मरण से परे है। परमात्मा मोक्षस्वरूप है। वह अन्न है अर्थात् संसार भर के भोज्य पदार्थ उसी के रूप हैं, अन्न, धन, स्त्री, पुत्र, पति, जो कुछ भी किसी दृष्टि से भोग की सामग्री है सब परमात्मा है। जो दूसरों को देता है वह जगत् की रक्षा करता है और साथ मे अपनी भी रक्षा करता है क्योंकि वह परमात्मा के नियमों और योजनाओं की रक्षा करता है, दैवी कार्य्यों मे सहायक होता है। जीवन की सफलता का मार्ग त्याग है। जो भोग्य पदार्थों के पीछे दौड़ता रहता है, जो स्वार्थ के वशीभूत होकर भोग की कामना करता है, उसको दैवी दंड का भागी होना पड़ता है और भोग ही उसे खा जाता है। इस एक मंत्र में एक ओर परमात्मा की सर्वात्मकता और दूसरी ओर धार्म्मिक जीवन का स्वरूप प्रतिपादित है।

पौराणिक काल में ईश्वर का साग्रह चर्चा करना बहुत आवश्यक हो गया, ईश्वर शब्द भी पूर्ण रूप से प्रचलित हो गया। यह अनिवार्य्य था। बौद्ध और जैन वेदों को तो नहीं ही मानते थे, परमात्मा की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते थे। इसलिए जब समय ने पलटा खाया तो वेदों की महत्ता के साथ-साथ

ईश्वर सत्ता पर भी भरपूर जोर दिया गया। एक और बात थी। इस बात का डर था कि देव देवियों के बाहुल्य के कारण कहीं यह बात भूल न जाय कि सब कुछ उस एक ही सत्ता का विकास और विलास है, नानात्व पर ध्यान जम जाने से अन्तर्वर्ती एकत्व विस्मृत न हो जाय। इसलिए भी बार-बार यह बात बतायी गयी है कि जगत् का मूल एक ही सत्ता है और, नाम चाहे जितने हों, उपासना चाहे जितने प्रकारों से की जाय, उपास्य एक ही है।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषाम्,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥
—पुष्पदन्ताचार्य्य कृत शिवमहिम्न स्तोत्र

'अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मनुष्य टेढ़े सीधे अनेक मार्गों का अनुसरण करते हैं पर सब के लक्ष्य आप ही हैं, जैसे कि सीधे टेढ़े चलकर सब नदियों का जल समुद्र में ही पहुँचता है।'

यह महान् सत्य है कि यह शिक्षा भारत के कोने कोने तक पहुँच गई है। आर्य्य धर्म्म के अनुयायी में सैकड़ों दोष हों परन्तु वह धर्म्म के नाम पर किसी से छेड़ छाड़ नहीं करता। वह मानता है कि सभी अपने-अपने ढंग पर उसी एक परमात्मा की ओर दृष्टि लगाये हुए हैं। '**यस्य विश्वमुपासते**'—उसके लिए ध्रुव सत्य है, इसके लिए हम पुराणकारों के ऋणी हैं।

दसवाँ अध्याय

कुछ अवैदिक प्रवृत्तियाँ

अब तक जिन सम्प्रदायों या विचारधाराओं का चर्चा हुआ है उन सब का आधार वेद था। भले ही उन्होंने व्यवहार में ऐसी बातों का समर्थन किया हो जो वेद के अनुयाइयों को शोभा नही देतीं परन्तु कहना सबका यही था कि हमारे लिए वेद ही अन्तिम प्रमाण है। परन्तु पौराणिक काल मे कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय निकले जिन्होंने खुलकर वेद के प्रामाण्य को अस्वीकार कर दिया। पुराने शब्दों में इनको नास्तिक कहना चाहिए परन्तु आजकल कुछ शब्दों के अर्थ कुछ के कुछ हो गये है। प्राचीन परिभाषा मे वेद को प्रमाण मानने वाला आस्तिक कहलाता था, न मानने वाला नास्तिक। ईश्वर को मानने वाला इस प्रसंग मे कोई महत्त्व नही रखता था। ईश्वर को असिद्ध मानने वाले कपिल आस्तिक थे, ईश्वर को मानने वाले ईसाई और मुसलमान नास्तिक हुए। आजकल ईश्वरवादी आस्तिक कहलाने लगा है, न माननेवाला नास्तिक। वेद को प्रमाण मानने न मानने का महत्त्व चला गया।

बौद्ध और जैन धर्म्म तो अवैदिक थे ही, पहिले भी नास्तिक कहलाते थे आजकल के प्रयोग में भी नास्तिक ही कहलायेंगे। इनके अपने पृथक् प्रस्थान ग्रन्थ हैं। बौद्ध तो थोड़े रह गये हैं, परन्तु जैनों की संख्या पर्य्याप्त है। यहाँ हम उनका इसलिए विस्तृत चर्चा नहीं करते कि यह दोनो धर्म्म पौराणिक काल से पहिले से चले आ रहे हैं।

इनसे भिन्न अवैदिक आम्नायों में मुख्य स्थान तांत्रिकों का है। तंत्र के

सम्बन्ध में बहुत भ्रान्त विचार फैले हुए हैं। तंत्र ग्रन्थ संस्कृत में हैं, तांत्रिक बहुधा ऊपरी आचार में वैदिकों की भाँति रहते हैं, इसलिए कुछ लोग उनको भी वैदिक मानते हैं। यह जानते भी नहीं कि वह वेद को आधार नहीं मानते, न वैदिक उपासना शैली को ठीक समझते हैं। यदि सीधे खंडन न भी करें तो यह कह देंगे कि कलिकाल के लिए वेद अनुपयुक्त हैं।

दूसरी ओर वह लोग है जो तंत्र को भ्रष्ट और व्यर्थ बातों से भरा मानते है और तान्त्रिकों को लम्पट और दुराचारी मानते है। तंत्रों के सम्बन्ध में पंडित-म्मन्य लोग क्या कह दिया करते हैं उसका एक उदाहरण लीजिए। यह बेंरिडेल कीथ के संस्कृत साहित्य के इतिहास से लिया गया है जिसका हिन्दी अनुवाद डा० मगलदेव शास्त्री ने किया है :

"तंत्रों का कोई दार्शनिक महत्त्व नहीं है, परन्तु पारम्परिक मूढ़ विश्वासों के इतिहास के लिए उनकी विशेष रोचकता है। काम-वासना के तत्वों को रहस्यवाद अर्थात् ईश्वर या ब्रह्म के साथ जीवात्मा के ऐक्य के जामे का पहिनाना ही तंत्रों का सारांश है।" यह अज्ञानमूलक पांडित्य का उज्ज्वल नमूना है। किसी अंग्रेज विद्वान ने ऐसा लिखा, इसमें बहुत आश्चर्य नहीं है परन्तु यह आश्चर्य और दुःख का विपय अवश्य है कि अनुवाद करते समय संस्कृत के एक भारतीय विद्वान् ने इसको यथावत् मान लिया और इस पर एक टिप्पणी लिखने की भी आवश्यकता नहीं समझी।

तत्र हेय समझे जाते है इसके लिए कुछ तो तंत्र ग्रंथ और तथोक्त तांत्रिकों के आचरण दोषी हैं। निश्चय ही कुछ तंत्र ग्रंथों में ऐसी बातें लिखी हैं जो किसी भी सदाचारी मनुष्य को खिन्न कर सकती हैं। पूजा में पंचमकार को जो स्थान दिया गया है वह चित्त को ग्राह्य नहीं प्रतीत होता, भैरवी चक्र आदि चित्त को कँपा देनेवाली क्रियाओं का चर्चा मिलता है जिनका अध्यात्म से सम्बन्ध समझ मे नहीं आ सकता। यह कह देना पर्य्याप्त नहीं है कि यह सब बातें गम्भीर रहस्यों को अनधिकारियों से छिपाने के लिए कही गयी हैं। जिन ग्रन्थों को लोग पढ़ेंगे, जिस आचरण को लोग देखेंगे, उसको ऐसा नहीं होना चाहिए कि उससे बुद्धि भेद हो और सामान्य जनता पर बुरा प्रभाव पड़े। ऐसा लगता है कि ऐसी

रचनाएँ उन लोगों ने की होंगी जो स्वयं तंत्र के रहस्य को नहीं जानते थे और उसकी आड़ में खेलना चाहते थे। उन्होंने मद्य, मांस, मैथुन का प्रलोभन देकर भोले लोगों को धोका दिया।

परन्तु तंत्र ग्रन्थों में यही सब नहीं है। बहुत गम्भीर दार्शनिक विचार हैं और योग की अनुभूतियों का ऐसा चर्चा है जिसे ऊँचा साधक ही कर सकता है और साधक ही समझ सकता है। देवताओं के उत्थापन के प्रयोग दिये गये हैं जिनका खंडन इतना कह देने से नहीं हो सकता कि इनका चर्चा वेद में नहीं मिलता। जब हम वेद का अर्थ ही भूल गये हैं तो यह भी तो नहीं कह सकते कि वेद में क्या मिलता है, क्या नहीं मिलता। जो लोग तंत्र को निःसार कहते हैं उनको चाहिए कि एक बार श्री शंकराचार्य की आनन्द लहरी और अभिनव गुप्त के एकाध ग्रन्थ को देख डालें।

उत्तर भारत में तंत्र की तीन मुख्य धाराएँ रही हैं, वैष्णव, शैव और शाक्त। वैष्णव तांत्रिक सम्प्रदाय का प्रायः लोप हो गया है और वह अब प्रायः पूर्णतया वैदिक हो गया है। वैष्णवों की परम आदरणीय पुस्तक श्रीमद्भागवत में अब भी नारद पंचरात्र नामक तंत्र ग्रंथ की छाया देख पड़ती है। आरम्भ में ही लिखा है कि व्यास जी ने वेद पढ़ा-पढ़ाया, वेद का विभाजन किया, वेदान्त सूत्रों की रचना की, परन्तु उनकी आत्मा को शान्ति न मिली। जब नारद जी ने आकर उनको विष्णु भक्ति की विशेष दीक्षा दी तब उनका चित्त स्वस्थ हुआ। यह स्पष्ट ही है कि वह उपदेश जो नारद जी ने दिया वेद वाह्य रहा होगा और वैदिक शिक्षा से ऊँचा होगा क्योंकि वेद तो व्यास जी का स्वयं मथा हुआ था।

तंत्र शब्द को सुनते ही शाक्त तंत्रों की ओर ध्यान जाता है क्योंकि जो लोग तांत्रिक नाम से प्रसिद्ध हैं उनमें अधिकतर शक्ति के ही उपासक हैं। शाक्त तांत्रिकों में ही वह गर्हित क्रियायें देखी जाती हैं जो तंत्र का अभेद्य अंग मानी जाने लगी हैं। तांत्रिक इनको छिपाते भी हैं। एक पुस्तक में लिखा है कि इन बातों को उस प्रकार छिपाना चाहिए जिस प्रकार कोई स्त्री अपने शरीर के गोप्य अंगों को छिपाती है : **स्वयोनिरिव**—इस सम्बन्ध में एक श्लोक बहुधा सुना जाता है।

अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः, सभामध्ये च वैष्णवाः ।
नाना रूपधरा कौला विचरन्ति महीतले ॥

'भीतर से शाक्त, बाहर से शैव, सभा मे वैष्णव, इस प्रकार कौल अर्थात् तांत्रिक लोग नाना रूपों में विचरण करते हैं।'

तांत्रिक उपासना शैली को प्रायः वाम मार्ग, बायाँ मार्ग, कहते हैं। इसके विरुद्ध शैली दक्षिण मार्ग, दाहिना मार्ग, कहलाती है। परन्तु तांत्रिक शैली में भी दक्षिण मार्ग होता है। दक्षिण मार्गी तांत्रिक मद्य मांस आदि को वर्ज्य मानता है। यहाँ मेरा उद्देश्य तंत्र के गुण दोष का विवेचन करना नहीं है। केवल इस वस्तुस्थिति को बताना है कि पौराणिक काल में अवैदिक तंत्रों का भी अभ्युदय हुआ था और उनका समाज पर बहुत प्रभाव पड़ा था। पुराणों पर भी उनकी छाया पड़ी और कई तांत्रिक मंत्र पुराणों मे समाविष्ट हो गये है। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है पराशक्ति के प्रचलित भागों में से कई ऐसे हैं जो तंत्र ग्रंथों से लिए हुए हैं। छिन्नमस्ता, धूमावती, बगलामुखी, वाराही, जयन्ती, यमघंटा, भद्रकाली जैसे नाम पहिले तंत्र वाङ्मय से ही सुनने को मिलते हैं। तन्त्रमूलक कुछ उपनिषदें भी उपलब्ध होती है। निश्चय ही यह पीछे की रचनाएँ है।

तंत्र बौद्ध धर्म्म में भी प्रविष्ट हुआ था। कुछ विद्वानो का मत है कि इसका उदय पहिले बौद्धों मे ही हुआ। महायान सम्प्रदाय जो नेपाल, तिब्बत, चीन और जापान में फैला, तांत्रिक धारणाओ और क्रियाओ से ओत-प्रोत है। कई बौद्ध तंत्र संस्कृत में भी हैं। परन्तु इनमें से कइयों की भाषा बहुत ही टूटी-फूटी और अशुद्ध है। भारत और भारत के बाहर किस प्रकार बौद्ध तांत्रिक उपासना फैली हुई थी उसकी झलक उस उपाख्यान से मिलती है जो प्रसिद्ध तंत्र ग्रन्थ रुद्रयामल में दिया हुआ है।

वशिष्ट बहुत बड़े विद्वान् और तपस्वी थे। वह वैदिक ऋषि भी थे। उन्होंने सभी वैदिक अनुष्ठान कर डाले थे और योगाभ्यासी भी थे। परन्तु उनके चित्त को शान्ति नहीं मिलती थी, आत्मा अतृप्त रहती थी। तब सत्य की खोज में वह तिब्बत पहुँचे। वहाँ उनकी लामा नाम के महात्मा से भेंट हुई।

उनसे दीक्षा लेने के बाद उनका चित्त शान्त हुआ।

वैष्णव तंत्र की तो अब पृथक् सत्ता प्रायः नहीं रही, वैष्णव तांत्रिक सम्प्रदाय अब वैदिक वैष्णवों में लीन हो गया है। शैव और शाक्त अब भी पृथक् हैं। उत्तर भारत में किसी समय कश्मीर शैव आगम का बड़ा केन्द्र था। दक्षिण भारत में वीर शैव या लिंगायत लोग भी तांत्रिक शैव हैं। शाक्त तंत्र के मुख्य प्रभाव क्षेत्र नेपाल और बंगाल में थे। प्रसिद्ध नाथ सम्प्रदाय भी जिसमें मत्स्येन्द्र, गोरक्ष और भर्तृहरि जैसे ख्यातनामा योगी हो गये हैं, सिद्धान्ततः तंत्रमूलक हैं।

शैव और शाक्त तंत्रों में थोड़ा बहुत भेद है परन्तु दोनों में बहुत कुछ सादृश्य भी है। तंत्रो में शुद्ध ब्रह्म और मायाशबल ब्रह्म का भेद नहीं है। जो वैदिक दर्शन के अनुसार मायाशबल ब्रह्म या परमात्मा है वह तांत्रिक दर्शन में परम शिव है। उससे सर्वथा अभिन्न पराशक्ति है। परम शिव और पराशक्ति को प्रकाश और विमर्श भी कहते है। परम शिव अपने संकल्प से जगत् का सर्जन करते हैं और उनकी स्वतंत्र इच्छा से ही जगत् का तिरोभाव होता है। जीवों पर अनुग्रह करके ही वह जगत् की रचना करते हैं ताकि वह अपने कर्मफलों का उपभोग कर सकें। शिव **'एकमेवाद्वितीयम्'** पदार्थ है इसलिए वस्तुतः शिव और जीव में अन्तर नहीं है।

'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' नाथ सम्प्रदाय का बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसके रचयिता स्वयं गोरक्षनाथ थे। उसके अनुसार परम शिव अपने को जिस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं वह यह है :

शिवाद् भैरवो, भैरवात् श्रीकण्ठः, श्रीकण्ठात् सदाशिवः।
सदाशिवात् ईश्वरः, ईश्वरात् रुद्रः, रुद्रात् विष्णुः, विष्णोः ब्रह्मा।

'शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु, विष्णु से ब्रह्मा।'

यह शिव की अष्टमूर्ति है। इस समुच्चय को महासाकार पिण्ड कहते हैं :

आत्मेति परमात्मेति, जीवात्मेति विचारणे ।
त्रयाणामैक्य संभूतिः, आदेश इति कीर्तितः ।।

'आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा के सम्बन्ध' में विचार करने पर तीनों एक हैं, यही आदेश (सिद्धान्त मत) है।'

शिव शक्ति के अभेद के सम्बन्ध में वह कहते हैं :

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः, शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयात्, चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ।।

'शिव के भीतर शक्ति है और शक्ति के भीतर शिव है। जिस प्रकार चन्द्रमा और चाँदनी में भेद नहीं है, उसी प्रकार शिव और शक्ति में अन्तर नहीं है।'

तंत्र ग्रंथों, विशेषतः शाक्त तंत्रों, में सृष्टिक्रम का बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है।

'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में तो यह क्रम इस प्रकार बताया गया है :

आद्यात् महाकाशः, महाकाशात् महावायुः, महावायोर्महातेजः, महातेजसो महासलिलम्, महासलिलात् महापृथिवी।

'आद्य पिण्ड (शिव) से महाकाश निकला, महाकाश से महावायु, महावायु से महातेज, महातेज से महासलिल, महासलिल से महापृथिवी।'

यह वर्णन तैत्तिरीय उपनिषत् के इस वाक्य से मिलता है : *

एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी

'इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप, अप से पृथिवी।'

शाक्त तंत्रों में अधिक विस्तार देख पड़ता है। उनके मंतव्य को संक्षेप में इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है :
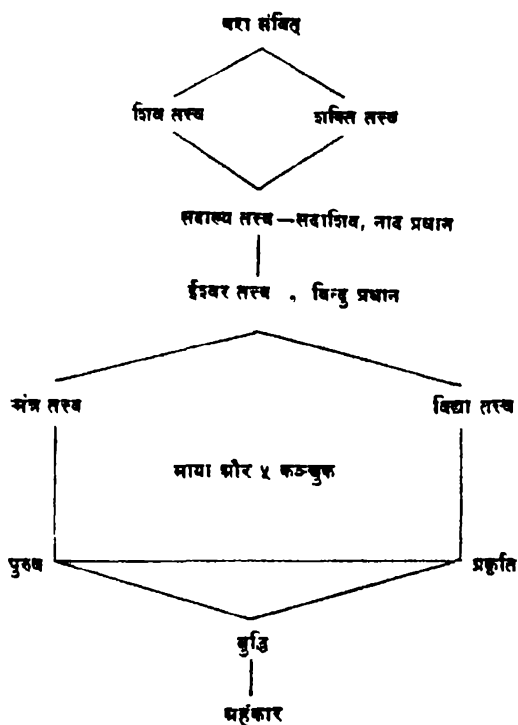
काल, कला, नियति, राग और विद्या को पंच कंचुक कहते हैं। परासंवित् वह मूल पदार्थ है जिसका विलास यह जगत है। वही वेदान्त का ब्रह्म और शैवागम का परम शिव है। शिव और शक्ति उसके दो रूप हैं। सदाशिव और ईश्वर में यह अन्तर है कि सदाशिव में नाद, अहं तत्त्व, की प्रधानता है और ईश्वर में विन्दु, अनहम् तत्त्व, की।

वैदिक विचारधारा से इस विकास-वृक्ष की कहाँ तक संगति होती है यह रोचक विषय है परन्तु यहाँ उस विस्तार में जाने का अवकाश नहीं है।

तांत्रिक उपासना पद्धति भी गम्भीरता से विचार करने का विषय है। उत्तम साधक के लिए तो एक ही मार्ग है : योगाभ्यास। योग का तंत्र ग्रन्थों मे बहुत चर्चा है। जिस क्रम से जीव बन्धन में पड़ा है उसके उलटे क्रम से चलकर ही उसको मोक्ष प्राप्त होगा। कहा जाता है कि मेरुदण्ड के निम्नतम भाग में पराशक्ति साढे तीन लपेटे लगाये हुए नागिन के रूप में सुषुप्त हैं। उसे वहाँ कुण्डलिनी कहते हैं। वही परावाक् है। योगी अपने अभ्यास के बल से उसे जगाता है। नागिन धीरे-धीरे ऊपर को उठती है और अन्त मे मस्तिष्क के ऊर्ध्व भाग में स्थित सहस्रार नामक स्थान पर पहुँचती है। नाड़िजाल जो आधार चक्र, मेरुदण्ड के सबसे निचले भाग, से आरम्भ हुआ था यहाँ समाप्त हो जाता है। अब प्राणों को कहीं आना-जाना नहीं है। यहाँ पहुँच कर योगी को जो अनुभूति होती है उसे शिव और शक्ति का मिलन कहते है। यही मोक्ष पद है।

परन्तु प्रत्येक व्यक्ति इसका अधिकारी नहीं होता। इस साधन के लिए पूर्ण वैराग्य चाहिए और यम, नियम आदि का कड़ाई से पालन होना चाहिए। साधक को मद्य, मांसादि छोड़ देना होगा। यह सब लोग नहीं कर सकते। जन साधारण के लिए तंत्र के आचार्य्य एक प्रकार के मध्यम मार्ग का उपदेश देते है। जिस प्रकार वेदों मे सहज प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाया जाता है पर इसके साथ ही धन, सम्पत्ति, वैभव, सन्तति की इच्छा, को नितान्त निद्य न कहकर उसको पूर्ति का भी विधान है, वैसे ही तंत्र के आचार्य्य भी करते हैं। वह कहते है कि हम सामान्य साधक को भी मोक्ष की ओर धीरे-धीरे ले चलते हैं पर उस पर इतना बोझ नहीं डाल देते कि उठ ही न सके। पुत्र, वित्त और लोक की

एषणाओं की तृप्ति भी संयत ढंग से कराते चलते हैं। हमारा मार्ग मुक्ति और भुक्ति दोनों को निबाहता है। यह श्रद्धा और अनुभव की बात है कि यह कथन कहाँ तक सत्य है। यह भी परीक्षा का विषय है कि कहाँ तक तान्त्रिक शैली वैदिक शैली की अपेक्षा फलदायक होती है।

तन्त्र ग्रन्थों में पराशक्ति के अनेक रूपों और नामों का चर्चा है। भगवती के परमधाम का भी, जहाँ उसका और परम शिव का नित्य विहार होता है, लाक्षणिक भाषा में वर्णन है। मणिद्वीप में सुन्दर सुगन्धित फूलों से सुशोभित उद्यान में, जहाँ देवों का भी प्रवेश नहीं हो सकता, एक पञ्च प्रेतात्मक पलंग बिछा हुआ है। चारों पाये चार प्रेत है, पलंग का बीच का भाग पाँचवाँ प्रेत है। इन प्रेतों के नाम हैं, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईशान और सदाशिव। उस पलंग पर त्रिपुरसुन्दरी महा भैरव, परमशिव, के साथ सोयी हुई है।

तंत्र अवैदिक, वेद बाह्य है, वह खुल कर ऐसा कहता है। ऐसी बातें करता है जो सुनने में विचित्र-सी लगती हैं परन्तु जिन अनुभूतियों को वह अपना आधार मानता है वह वेदबाह्य नहीं है। योग किसी की सम्पत्ति नहीं है। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि देवताओं का चर्चा करके वेद पराशक्ति के भेदों की ओर ध्यान आकृष्ट करता है और कुछ सूक्तों में तो विशेष रूप से शक्ति की महत्ता प्रतिपादित करता है। इस सम्बन्ध में रात्रि सूक्त और वागम्भृणी सूक्त विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। परम वैदिक शंकराचार्य्य ने शक्ति तत्व का बड़ा सुन्दर चित्र उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिक भाषा में आनन्दलहरी में खींचा है।

तंत्र आज तो हमारे धार्म्मिक जीवन में पूर्ण रूप से व्याप्त हो गया है। लोग देव-देवियों के मन्दिरों में जाते हैं, घर पर कई प्रकार की इष्टियाँ और शान्तियाँ कराते हैं पर उनको इस बात का पता भी नहीं है कि वह किसी अवैदिक परम्परा का अनुगमन कर रहे हैं। सच तो यह है कि अपने को तांत्रिक कहने वालों में भी ऐसे व्यक्ति हैं जिनको यह ज्ञात नहीं है कि वह जिस शैली का अनुकरण कर रहे हैं वह वेदबाह्य है।

यह भ्रम तो किसी को नहीं रहना चाहिये कि बेरिडेल कीथ का यह

मूल्यांकन यथार्थ है कि तंत्रों का कोई दार्शनिक महत्त्व नहीं है। आज बहुत से भारतीय विद्वान् यह मानने लगे हैं कि तंत्र केवल काम-वासना को तृप्त करने का साधन बतलाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि तंत्र में ऐसी बातों का समावेश हो गया है जो सर्वथा अश्लील और जघन्य हैं। मन्द-से-मन्द अधिकारी को ऐसे मार्ग पर नहीं ले चलना चाहिये। परन्तु इसके साथ ऊँची कोटि का दार्शनिक विचार और योग की दीक्षा भी है। संयम के साथ भोग करना भी विहित है और कठोर वैराग्य का भी आदेश है। पक्षपात और रूढ़िगत विचारों ने हमारे आध्यात्मिक जीवन के इतिहास के इस अध्याय का अब तक यथार्थ अध्ययन नहीं होने दिया है। अब इधर ध्यान जाना चाहिये। वेदबाह्य होने से किसी वस्तु को विचार के अयोग्य नहीं ठहराया जा सकता।

मैंने आरम्भ में ही कहा था कि बौद्ध और जैन धर्म्म पौराणिक काल के पहिले से चले आ रहे हैं, अतः उनके सम्बन्ध में कुछ न कहूँगा परन्तु प्रसंग वशात् बौद्ध तंत्र के विषय में कुछ बातों की ओर ध्यान आकृष्ट करना अनुचित न होगा।

बौद्ध धर्म्मावलम्बी दो मुख्य सम्प्रदायों में विभक्त हैं : महायान और हीनयान। हीनयान दक्षिण एशिया, लंका, बर्मा, स्याम, में प्रचलित है। उत्तर एशिया, तिब्बत, चीन, जापान, महायान के क्षेत्र में हैं। महायान सम्प्रदाय तांत्रिक विचारों और पद्धतियों से ओतप्रोत है। उसको कई दृष्टियों से पुराणकालीन वैदिक धर्म्म और बौद्ध धर्म्म के बीच का पुल कह सकते हैं। बुद्धदेव के मूल उपदेशों को मानते हुए भी उसने कई ऐसी मान्यताओं को प्रश्रय दिया है जिनका धर्म्म पद या त्रिपिटक में कहीं पता नहीं चलता।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य, चरम पुरुषार्थ, निर्वाण है, ऐसा महायान भी मानता है परन्तु निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्य्यों के मतों में भेद प्रतीत होता है। हीनयान के अनुसार निर्वाण का अर्थ है मिट जाना। अविद्या के कारण अपने अस्तित्व की, आत्मा की, भ्रान्ति हो रही है। इस भ्रान्ति के कारण जीव नाना लोकों में, अनेक शरीरों में, घूमता रहता है। बोधि प्राप्त होने पर यह भ्रान्ति दूर हो जाती है, दीपक बुझ जाता है, आत्मा की कल्पित सत्ता उस 'कुछ नहीं' में विलीन हो जाती है जिसमें से वह प्रादुर्भूत

हुई थी। महायान के आचार्य्य यह तो नहीं कहते कि बुद्धदेव के उपदेश का यह अर्थ नहीं था पर वह निर्वाण की अवस्था के दूसरे लक्षणों पर अधिक जोर देते हैं। वह कहते हैं कि निर्वाण प्राप्त होने पर पुनर्जन्म की निवृत्ति होती है। भव श्रृंखला टूट जाती है, इच्छा, राग, द्वेष, और मोह दूर हो जाते हैं, निर्विकल्प ज्ञान होता है, शून्यता में स्थिति होती है। परन्तु विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि इन सब अवस्थाओं में अस्तित्व बना रहता है।

परमतत्त्व को धर्म्मकाय कहते हैं। यह अति सूक्ष्म सत्ता मात्र पदार्थ है। इस धर्म्मकाय की प्रथम अभिव्यक्ति आदिबुद्ध है। जब आदि बुद्धनामरूप युक्त होते हैं तो वही सम्भोगकाय कहलाते हैं। सम्भोगकाय सत्तामात्र नहीं है, वह आनन्दस्वरूप है। कुछ ऐसे महापुरुष होते हैं जो पूर्णप्रज्ञा प्राप्त करके भी निर्वाणावस्था को ग्रहण नहीं करते। जीवों पर करुणा करके अपनी इच्छा से फिर शरीर ग्रहण करते हैं। ऐसे लोगों को बोधिसत्त्व कहते हैं। बोधिसत्त्व जिस शरीर को धारण करते हैं वह निर्माणकाय होता है। इस शरीर में उनको बुद्ध कहते हैं। इस अन्तिम शरीर के छूटने पर निर्वाण प्राप्त करते हैं। आध्यात्मिक उत्कर्ष, निर्वाण की पात्रता, के साधन हैं : दान, वीर्य्य, शील (सदाचार) क्षान्ति, ध्यान-प्रज्ञा। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति के लिए बहुत से मंत्र बतलाये गये हैं और कई देव-देवियों के ध्यान की विधियाँ बतायी गयी हैं। जैसा कि मैंने पहिले कहा है बौद्ध धर्म्म को सर्वतंत्रसम्मत मुख्य ग्रन्थों मे इन बातों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। महायान के पंडितों का कहना है कि बुद्धदेव ने किन्हीं विशिष्ट अधिकारियों को गुप्त रूप से यह बातें बतलायी थीं।

इस संक्षिप्त विवरण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि महायान सम्प्रदाय वैदिक दर्शन से बहुत कुछ प्रभावित हुआ था। धर्म्मकाय की तुलना शुद्ध ब्रह्म से की जा सकती है और आदिबुद्ध की परमात्मा से। निर्वाण के जो लक्षण बताये जाते हैं वह उन लक्षणों के समान हैं जिनका चर्चा वेदान्त के आचार्य्य मोक्ष के स्वरूप का निरूपण करते समय करते हैं। शंकराचार्य्य को कुछ लोग प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे। यदि विचार किया जाय तो महायान प्रच्छन्न वेदान्त है।

किसी न किसी रूप में कई वैदिक देवगण भी प्रवेश पा गये। यों तो

महाब्रह्मा और इन्द्र का चर्चा बुद्धदेव के जीवन काल में भी होता था परन्तु अब यह चर्चा अधिक विशद हो गया। वेदों में भी इन्द्र शतमन्यु और वज्रपाणि कहे जाते हैं। उनके यह नाम बने रहे और वह त्रयस्त्रिंश लोक के अधिष्ठाता माने गये। मञ्जुश्री, अवलोकितेश्वर और विरूपाक्ष बोधिसत्वों के नाम हैं, परन्तु इनकी प्रशस्तियाँ बतलाती हैं कि इनकी आड़ में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र विराजमान हैं। आठ दिक्पाल भी विद्यमान हैं। गणेश को बहुत प्राधान्य मिला है। उनकी सौम्यमूर्तियाँ भी हैं परन्तु विनायक नाम के कई विग्रह तो बहुत ही वीभत्स और अश्लील हैं। महायान सम्प्रदाय की उपास्य सूची में तारा देवी का स्थान बड़े महत्त्व का है। जहाँ तक मुझे ज्ञान है अन्य उपास्यों को तो इन लोगों ने वैदिक देवसूची से लिया परन्तु तारा का परिचय हमको महायान वाङ्मय में ही सबसे पहिले मिलता है। पीछे से उनको उन तांत्रिकों ने अपनाया जो बौद्ध नहीं थे। तत्पश्चात् वह देव परिवार में जगह पा गयीं और उन लोगों में भी पूजनीया हो गयीं जो तांत्रिक नहीं है। नीलतारा भी तारा की ही भेद है।

जैनधर्म्म भी तंत्र के प्रभाव से पूर्णतया अछूता नहीं रह सका, परन्तु उसमें तान्त्रिक विचारों का विशेष प्रसार नहीं हुआ।

तंत्र की महती अवैदिक प्रवृत्ति इस देश के आध्यात्मिक जीवन के इतिहास मे अपना विशेष स्थान रखती है। एक ओर तो तंत्र के द्वारा वैदिक दर्शन और उपासना शैलियों ने बौद्ध धर्म्म में प्रवेश करके उसके कलेवर में कई क्रान्तिकारी परिवर्तनों को प्रेरित किया, दूसरी ओर एक बार वेदमूलक विचारों और वैदिक उपासना शैलियों को अंशतः स्वीकार करके बौद्ध धर्म्म को वैदिक परम्पराओं को प्रभावित करने का अवसर मिला। पुराण काल के धार्म्मिक जीवन में यह समन्वयकारिणी शक्तियाँ काम कर रही थीं। बौद्ध धर्म्म भले ही भारत से चला गया हो परन्तु अपनी काफी निशानी छोड़ गया है, यहाँ तक कि लोक-व्यवहार से वेदमूलक और वेदवाह्य तत्त्वों को पृथक् करना कठिन हो गया है।

तृतीय खण्ड

पुराणोत्तर काल

ग्यारहवाँ अध्याय

वैदिक से हिन्दू

अब तक हम उन सिद्धान्तों और विश्वासों तथा क्रियाओं को जो वेद सम्मत हैं वैदिक कहते रहे हैं और उन लोगों के लिए भी इसी शब्द का व्यवहार करते रहे हैं जो वेदसम्मत मार्ग पर चलते हैं। ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनका वेद में स्पष्ट उल्लेख नहीं है परन्तु यदि यह सिद्ध किया जा सके कि वह वेद-विरुद्ध नहीं है तो अर्थापत्ति से उनको वैदिक मान लिया जा सकता है। इसी आधार पर मीमांसा दर्शन में होलिकाधिकरण में होली को वैदिक माना गया है। अब हम हिन्दू शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं। यह शब्द ठीक-ठीक कब से चला और इसकी यथार्थ व्युत्पत्ति क्या है इस सम्बन्ध में कई मत हैं। हमको उस शास्त्रार्थ में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इतना तो प्रतीत होता है कि इसका चलन पौराणिक काल के बाद ही हुआ। पौराणिक युग के अन्त होते-होते हर्षवर्धन सम्राट् हुए, लगभग उसी समय अरब में इस्लाम का उदय हुआ। हर्षवर्धन के कुछ काल बाद से भारत पर विदेशी आक्रमणों का तांता लग गया। शक और हूण तो आ ही चुके थे, अब अरब, पठान और मुगल आये। भारत के नये शासक इस्लाम धर्म के अनुयायी थे। वह लूटमार कर चले नहीं गये, यहीं बस गये। उनके सम्पर्क से वैदिक धर्म्म पर, जो, पौराणिक काल में नया रूप धारण कर ही चुका था, बहुत प्रभाव पड़ा। उसका कलेवर और बदला। हिन्दू नाम चाहे विदेशियों का ही दिया हुआ हो परन्तु लोगों ने स्वयं इसको स्वीकार कर लिया, अपने को हिन्दू कहने लगे। इसलिए आगे से इस शब्द का व्यवहार ही सुविधाजनक होगा। अब भी हिन्दू धर्म्म में अन्तिम प्रमाण पद वेद को ही प्राप्त है, वही हिन्दुओं की सर्वमान्य धर्म्म पुस्तक है, परन्तु बहुत से हिन्दू

उसके नाम तक से परिचित नहीं हैं। ऐसे लोगों को वैदिक कहने से विशेष लाभ भी नहीं है, यद्यपि उनको वैदिक के सिवाय कुछ और कहा भी नहीं जा सकता। वस्तुतः हिन्दू शब्द का अर्थ वैदिक से अधिक व्यापक है। उसके अन्तर्गत हर प्रकार के वैदिक तो हैं ही, तांत्रिक और जैन तक परिगणित हैं। इसीलिए इसकी परिभाषा करना कठिन है। कभी-कभी ऐसा कहा जाता था कि जिन लोगों में सम्पत्ति का विभाजन स्मृतियों मे दिये हुए दायभाग के अनुसार होता हो वह हिन्दू हैं परन्तु पश्चिम भारत के बोहरे मुसलमान होते हुए भी हिन्दू दायभाग मानते है। व्यवहार में तो अब यह बात हो गयी है कि जो अपने को हिन्दू कहे वही हिन्दू है। यदि उसको और लोग भी हिन्दू कहते हों तो सोने में सुगन्ध आ गयी।

बारहवाँ अध्याय

परतंत्र भारत में हिन्दू धर्म

हर्षबर्धन अन्तिम हिन्दू सम्राट् हुए। जिस समय वह भारत में अपने राज्य का विस्तार कर रहे थे और चीनी यात्री ह्वेनत्सांग के साथ मिलकर बौद्ध धर्म्म की ग्रन्थियों को खोल रहे थे, उन्हीं दिनों अरब में मुहम्मद साहब इस्लाम की नींव रख रहे थे। हिन्दू साम्राज्य भी गया और भारत से बौद्ध धर्म्म का भी लोप हो गया। परन्तु इस्लाम का बल दिन दूना रात चौगुना बढ़ता गया। उसके प्ररोह भारत तक पहुँचे और यहाँ भी इस्लाम का बटवृक्ष खड़ा हो गया।

सबसे पहिले सिन्ध पर अबू बिन क़ासिम का आक्रमण हुआ, फिर ऐसे आक्रमणों का ताँता लग गया। ईरान और अफ़गानिस्तान इस्लाम को स्वीकार कर चुके थे, मध्य एशिया पर इस्लामी ध्वजा फहरा रही थी। अतः भारत पर जिन लोगों ने अब आक्रमण किया वह केवल पठान और मुगल नहीं थे, एक नये धर्म्म के सन्देशवाहक थे। उस धर्म्म में हिन्दू धर्म्म की बहुत-सी मान्यताएँ अक्षम्य अपराधों में परिगणित थीं। भारत के नये आक्रामक लूटपाट करने या केवल शासन करने नहीं आये थे, वह लोगों को मुसलमान बना कर स्वर्ग का द्वार दिखलाने का उद्देश्य लेकर भी आये थे। भारत के पुराने आक्रामक असभ्य या अर्द्ध सभ्य थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति को अपनाया। उनके वंशजों को यह स्मरण नहीं रहा कि उनके पूर्वज कभी बाहर से आये थे। नये आक्रामक अपनी संस्कृति विशेष लेकर आये थे, वेद की जगह कुरान साथ लाये थे। भले ही वह लोग भारत में बस गये पर उनके सामने यह आदर्श था कि एक दिन भारत को पूरी तरह दारुल इस्लाम (इसलामी देश) बनाना है। जब तक ऐसा नहीं होता,

जब तक हिन्दुओं में थोड़ी-सी भी संघर्ष की शक्ति रहती है, तब तक यह देश उनके लिए दारुल हरब—युद्ध का देश, था।

इस्लामी शासन को भारत में प्रधान स्थान पाते बहुत देर नहीं लगी। ऐसा क्यों हुआ, इस राजनीतिक प्रश्न पर विचार करना इस पुस्तक का विषय नहीं है। दक्षिण भारत प्रत्यक्ष इस्लामी प्रभाव और शासन से बहुत कुछ बच गया, परन्तु उत्तर भारत में सर्वत्र या तो विदेशी शासन था या ऐसा देशी शासन था जो विदेशी चंगुल में दबा हुआ था। इस देश में बस कर बाहर से आने वालों ने अपना विदेशीपन खो दिया। यही देश उनका घर रह गया। अपने राज्य की रक्षा करने के लिए पठान और मुगल नरेश हिन्दू सिपाहियों से भी काम लेते थे। परन्तु भारतीय बनकर भी वह लोग कई बातों में यहाँ के हिन्दू निवासियों से पृथक् थे। इसमें दोष किसी का रहा हो, वस्तु-स्थिति यही थी। समूचे उत्तर भारत में एक भी स्वतंत्र हिन्दू नरेश नहीं था। जो राजे महाराजे रह गये थे वह पठान और मुगल बादशाहों के अधीन थे। राजनीतिक दासता बड़ी बुरी चीज़ होती है। देश को स्वाधीन हुए अभी पन्द्रह वर्ष ही तो हुए हैं। हम दासता काल को भूले नहीं हैं। पठान और मुग़ल के बाद अंग्रेज आये। हिन्दू पूर्ववत् दास ही रहा। दास इच्छाभिघात की जीती-जागती मूर्ति होता है। योग्यता होते हुए अपने को दबाना पड़ता है, अपने ऊँचे आशयों को नित्य छिपाना पड़ता है, छोटी छोटी सी बात पर कलेजा मसोस कर रह जाना पड़ता है। ऐसे लोगों के सामने सिर झुकाना पड़ता है जो विद्या, बुद्धि, पौरुष, किसी बात में अपने बराबर नहीं होते। झूठ और चाटुकारिता ही उन्नति का साधन रह जाती है। अपने देश और देशवासियों का अहित करना विश्वसनीयता की कसौटी बन जाती है। मनुष्य के मनुष्यत्व का, उसके विवेक का, हनन हो जाता है। विदेशी शासन चरित्र के पतन का अचूक हेतु होता है।

हिन्दू की विपत्ति राजनीतिक दासता तक ही सीमित नहीं थी। वह धार्म्मिक असहिष्णुता का भी शिकार था। विदेशी आक्रामक स्वर्ग की कुंजी लेकर आये थे और उनका विश्वास था कि स्वर्ग की एक ही कुंजी है। उनका धर्म्म सत्य है, उसके सिवाय और सभी धर्म्म मिथ्या हैं। मिथ्या को क्यों इस बात का अवसर दिया जाय कि वह लोगों की बुद्धि भ्रष्ट करे? उसको तो मिटा

देना ही श्रेयस्कर है। दुःख और आश्चर्य्य की बात तो यह है कि जो मुस्लिम शासक पीढ़ियों के भारतवासी थे उनमें से भी कुछ के चित्त में यह धार्म्मिक द्वेष भावना बनी हुई थी। हिन्दू आखिर मनुष्य था। सोमनाथ के खंडहरों की पुकार उसके कानों में जाती ही थी, मथुरा, अयोध्या, काशी के टूटे हुए मन्दिरों पर दृष्टि पड़ती ही थी। पूजा पाठ में बाधा और खुला गो बध उसके चित्त को एक बार तो हिला ही देता था और स्त्रियों का अपहरण उसके हृदय की स्मशानवत् शान्ति को भी क्षुब्ध कर ही देता था। ये बातें नित्य नहीं होती थीं, परन्तु इनकी स्मृति मिटने नहीं पाती थी। पुराने आघातों को भूलते-भूलते नई चोट लग जाती थी। हर अकबर के बाद कोई औरंगजेब आ ही जाता था। यह सब होता था, पर हिन्दू चुपचाप देखता रहता था। यदि उसकी कमर में तलवार थी भी तो वह मुस्लिम शासकों की ओर से ही उठती थी। आमेर (जयपुर) के प्रसिद्ध राजा मानसिंह के सम्बन्ध में उस काल के किसी मुस्लिम विद्वान् ने कहा था :

हिन्दू मी जनद शमशेरे इस्लाम

'इस्लाम की तलवार हिन्दू चला रहा है।'

ऐसी बातें भी तो चरित्र को गिराने वाली होती हैं। जो विदेशी शासन के पाँव के नीचे रौंदा जा रहा है, जो अपने धर्म्म को बचा नहीं सकता, जो अपने देवस्थानों को ध्वस्त और अपवित्र किये जाते देखता रहता है और घर की स्त्रियों की लज्जा जिसके हाथों में सुरक्षित नहीं है, वह नाममात्र का मनुष्य है, मनुष्य शरीर का कलंक है। ऐसे प्राणियों में सच्चा आध्यात्मिक जीवन कहाँ हो सकता था? प्रतिभा पर भी तुषारपात हो गया। शास्त्रीय क्षेत्र में प्रायः एक भी ऐसा नया ग्रंथ नहीं लिखा गया जिससे विद्या की उन्नति होती और जन साधारण का कल्याण होता। अधिकतर भाष्य और टीका ग्रंथ ही लिखे गये। कलात्मक प्रवृत्तियों का भी रूप वह नहीं रहा। हिन्दू कलाकार और कारीगर उन इमारतों के बनाने में लगे जिनका सौन्दर्य्य आज भी चित्त को अपनी ओर खींचता है परन्तु स्फूर्ति का स्रोत बदल गया। मूर्तिकारी के लिए इस्लामी दरबार में अवकाश नहीं था क्योंकि इस्लाम मनुष्य की आकृति बनाना निषिद्ध मानता है।

अन्तिम अनुच्छेद में कला के विषय में जो लिखा गया है उससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। कलात्मक कृतियों की रचना बंद नहीं हुई। इस क्षेत्र के कुछ अंगों में बहुत विकास हुआ। मुस्लिम शासक चित्रकारी के प्रेमी थे। उनके दरबारों मे हिन्दू और मुसलमान चित्रकार बराबर आश्रय पाते थे। हिन्दू नरेशों ने भी इस कला को उत्साहित किया। उसी काल में चित्रकारी की कांगड़ा और राजस्थानी शैलियों का उदय हुआ। राजस्थानी शैली के स्वयं कई भेद थे, जिनका संबन्ध उन राज्यों से था जिनमें उनका विकास हुआ था। इस काल के चित्रों के विषय कुछ तो दरबारी होते थे, कुछ युद्धमूलक, परन्तु शृंगार का प्राधान्य था। या तो स्त्री पुरुषों की प्रणय चेष्टाओ का सीधे वर्णन होता था या राग-रागिनियों के चित्रण में। कृष्ण लीला के बहुत चित्र बने। यह चित्र कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं और हमारी अमूल्य सांस्कृतिक निधि हैं, परन्तु विषय की दृष्टि से इनमें से अधिकतर शृंगारमूलक ही हैं।

जिस काल में मन्दिरों और मूर्तियों के ध्वस्त होने की आशका रहती हो, उन दिनो बड़े मन्दिर कहाँ बन सकते थे ? परन्तु एक बात निश्चय ही कुतूहल-जनक है। मूर्ति तोड़ने वालों के लिए हिन्दू और जैन एक से थे; परन्तु हिन्दुओं को यह सुविधा थी कि देश के कुछ भागों में हिन्दू नरेश थे। फिर भी जैन धर्म्मावलम्बियों ने विशाल और सुन्दर मन्दिर बनवाये। आबू और राणकपुर के जैन मन्दिरों की संगमर्मर पर खुदाई अपने ढंग की अद्वितीय है। हिन्दुओं का एक भी ऐसा मन्दिर नहीं है। मूर्तियों की भी वही दशा है। जैन मूर्तियाँ बहुत सुन्दर हैं, हिन्दू मूर्तियाँ बहुत ही भद्दी। मैं इस बात का कारण समझ नहीं पाता।

संगीत का भी बहुत विकास हुआ। खियाल शैली तो इस काल की देन हं ही, कई राग-रागिनियों का सर्जन हुआ, नये वाद्य यंत्र भी निकले। मुस्लिम शासकों ने भी पुरानी भारतीय पद्धति को ही अपनाया।

इन बातों का सम्बन्ध मुख्यतया उत्तर भारत से है। उसको ही विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा। उस पर ही उनका भौतिक और नैतिक प्रभाव मुख्य रूप से पड़ा। दक्षिण भारत उन देशों से बहुत दूर पड़ता था जहाँ

से पठान और मुग़ल आते थे। अतः वह बहुत कुछ सुरक्षित था। सुदूर दक्षिण मे स्वतंत्र त्रावणकोर राज्य था। कुछ शतियों तक विजयनगर साम्राज्य का बोल-बाला था। पश्चिम में महाराष्ट्र साम्राज्य का उदय हुआ। इसलिए दक्षिण भारत को राजनीतिक स्वाधीनता के सुख का भी अधिक अनुभव मिला, आध्यात्मिक दुर्गति भी नहीं देखनी पड़ी, मानस ग्लानि भी कम सहनी पड़ी। वहाँ साहित्य और कला को भी पर्य्याप्त प्रश्रय मिला। चरित्र में उस प्रकार की गिरावट भी नहीं आने पायी। सच बात यह है कि हिन्दुत्व को दक्षिण भारत ने डूबने से बचा लिया।

परन्तु देश की अधिकतर जनता उत्तर भारत में रहती है और उसका राजनीतिक तथा धार्म्मिक महत्व अधिक है, पहिले भी था। साम्राज्य की राजधानी यही थी। उसका दबाव और प्रभाव समूचे देश पर पड़ता था। मुख्य तीर्थ यहीं थे, सारा देश यही से धार्म्मिक प्रेरणा लेता था। उत्तर भारत की दशा का कुछ वर्णन हम कर चुके है। जो लोग इस प्रकार दलित हो गये हों, जो लज्जा खोकर अपनी आँखों से अपने देवस्थानों, देव प्रतिमाओं और स्त्रियों की अप्रतिष्ठा देख रहे हों, उनमें आध्यात्मिकता और धार्म्मिकता कहाँ हो सकती थी? दुर्बलों और कायरों में सच्चा अध्यात्मभाव नहीं होता। उपनिषद् के शब्दो में:

> **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।**
> 'इस आत्मा को बल हीन नहीं प्राप्त कर सकता।'

ऐसी अवस्था में हिन्दुत्व ने जो नया चोला बदला उस पर आश्चर्य्य नहीं होता। इस अंधकार के काल के भक्ति मार्ग खुला, भक्तिवाद का उदय हुआ। यह वाद सर्वथा उस युग के अनुरूप था, इसलिए इसका प्रचार बड़ी शीघ्रता से हुआ। इस कथन का यह तात्पर्य्य नहीं है कि भक्ति सर्वथा नयी वस्तु थी। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि हिन्दुओं ने भक्तितत्व को बाहर वालों से सीखा। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। उपनिषद् का एक वाक्य है:

> **यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।**
> **तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥**

'जिसको ईश्वर के प्रति पराभक्ति है और जैसी भक्ति ईश्वर में है वैसी ही गुरु मे है, उस महात्मा पर यह बताये हुए अर्थ प्रकाशित हो जाते है, अर्थात् ये गूढ़ विषय स्वतः समझ में आ जाते है।'

हमने नवें अध्याय में वेद मंत्रो के कुछ अवतरण दिये हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वेद में भी उपास्य उपासक के बीच के मधुर सम्बन्ध का चर्चा है। भक्तो में चार प्रकार के भाव प्रधान माने जाते है : वात्सल्य भाव, सेवक भाव, सखा भाव और दाम्पत्यभाव। सभी के उदाहरण वेद से दिये जा सकते है।

हमने कुछ दिये भी हैं। परन्तु पुराणोत्तर काल में भक्ति नाम से जिस वाङ्मय का सर्जन हुआ वह श्रुतिसम्मत मर्य्यादा को पार करके बहुत आगे बढ़ गया। किसी पराजित, दुर्बल, हतोत्साह समुदाय की आध्यात्मिक भावना का इससे बुरा चित्र मिलना कठिन है। भक्ति के नाम पर जितना रोना गाना हुआ है उतने वेद मत्र नही है। पर संख्या की तो बात अलग है, यह भक्ति साहित्य मनुष्य को उठाने की क्षमता रखता ही नही, उलटे नीचे गिराता है।

वेद में मनुष्यों को **अमृतस्य पुत्राः**, अमृत की सन्तान, कहा गया है। पौराणिक काल मे यह गर्वोक्ति है कि **मनुष्यः कुरुते यत्तु तन्न शक्यं सुरासुरैः** मनुष्य जो करता है उसे सुर और असुर नहीं कर सकते और अब यह उक्ति हो गयी है :

पापोऽहं, पापकर्म्माऽहं, पापात्मा, पापसम्भवः

'मैं पापी हूँ, पापकर्मा हूँ, पापात्मा हूँ, पाप से उत्पन्न हुआ हूँ।' सोचने की बात है कि यह कैसा बड़ा अन्धेर है ! कोई अपने को पापकर्म्मा कह ले परन्तु जो लोग जीव और ईश्वर को समानधर्म्मा मानते हैं वह पापात्मा कैसे हो सकते हैं ? क्या ईश्वर पापात्मा है ? अधिकांश हिन्दुओं का विवाह ब्राह्म-पद्धति से होता है जिसमें पदे पदे वेद मंत्र पढ़े जाते हैं और देवगण का साक्ष्य होता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तति पापसम्भव कैसे हुई ? क्या वेद पापकर्म्म का समर्थन करते हैं और देवगण पाप के साक्षी बन कर आते हैं ? कितनी

नासमझी से भरा यह श्लोक है, धर्म्म के कितना विरुद्ध है, फिर भी बड़े चाव से पढ़ा जाता है। न जाने किस धर्म्मविमुख ने इसे बनाया है! जो अपने को पापात्मा कह सकता है उसे पतित कहलाने मे कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उलटे सुविधा होती है। पतित का अर्थ है 'गिरा हुआ'। जो गिर गया है उसको उठाने का भार तो किसी दूसरे पर ही होगा। यह बोझ भगवान् पर डाल दिया गया। यज्ञ के लिए अरणि और उत्तरारणि नाम की दो लकड़ियों की रगड़ से आग पैदा की जाती है। इसी का रूपक बाँध कर वेद में कहा गया है :

आत्मानमरणिं कृत्वा, प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्, पापं दहति पूरुषः ।।

'आत्मा को अरणि और ऊँकार को उत्तरारणि बनाकर ज्ञान द्वारा मथने से जो आग उत्पन्न होती है उससे पुरुष अपने पाप को जलाता है।' नये युग मे स्वयं कुछ करना ही नही रहा :

मैं हरि पतितपावन सुने,
मैं पतित तुम पतितपावन, दोउ बानक बने ।।

भगवान पतित पावन हैं, यदि मुझे पावन, निष्पाप, नहीं बनाते तो उनकी साख जाती है, मेरा क्या ? कहाँ वेद का यह कहना कि दुर्बल मनुष्य मोक्ष का अधिकारी नहीं होता, कहाँ अब डंके की चोट अपने को दुर्बल कहा जाने लगा :

सुनेरे मैंने दुर्बल के बल राम !

कहाँ वेद का आदेश था : **'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्'**, सारे जगत् को आर्य्य बनाओ और कहाँ बड़ा से बड़ा महात्मा अपने नाम के आगे 'दास' जोड़ने में गौरव समझ रहा था।

भगवान् से प्रार्थना अब भी की जाती थी परन्तु, पहिले से कितना अन्तर

पड़ गया! वैदिक काल में आर्य्य माँगता था 'अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु' —हमारे वीरों की जीत हो, अस्माकं या इषवः ता जयन्तु—हमारे जो शस्त्र हैं उनकी विजय हो। पौराणिक काल का हिन्दू भी कहता था :

रूपं देहि जयं देहि, यशो देहि, द्विषो जहि !

'रूप दो, जय दो, यश दो, शत्रुओं को जीतो।' वैदिक आर्य्य कहता था :

उत्तिष्ठत संनह्यध्वम् उदारा केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना रक्षांसि, अमित्राननुधावत ॥

'उठो, सन्नद्ध हो जाओ, अपने झंडे ऊँचे करो, जो दुष्ट, इतरजन, शत्रु हैं उनका पीछा करो।'

पर हिन्दू भक्त को इन बातों से कोई प्रयोजन नही था। भूमि तो वह दूसरो को सौप चुका था। उसके उद्धार की बात वह सोचता ही नही था। भले ही मन्दिर टूटे, देवमूर्तियों की अप्रतिष्ठा हो, गौएँ कटें, स्त्रियों का अपहरण हो। भक्त निश्चिन्त था, इन छोटी बातों की ओर आँख उठाकर देखता भी नही था। आप भक्ति साहित्य उठाकर देख जाइये, बड़े बड़े भक्तराजों की रचनाओ का अध्ययन कीजिए परन्तु कहीं भी इन बातों का चर्चा न मिलेगा, भूल से भी भगवान् से यह न माँगा गया होगा कि हमको शक्ति दो कि इन बातों को दूर करें, इस दुरवस्था का अन्त करें। चारों ओर आग लगी है तो लगी रहे। हम तालमृदंग के शोर से आर्तों का क्रंदन दबा देंगे पर अपने भगवान् की मीठी नीद न टूटने देंगे। उपासना का ढंग तो बदल गया ही, वैदिक यज्ञ याग तो गये ही थे, योग रह गया था, अब वह भी गया। उसकी जगह 'भजन' ने ले लिया। पलायनवृत्ति का बोलबाला था।

भक्ति किसी की भी हो सकती है; परन्तु प्रकृत्या अधिकतर भक्त विष्णु के उपासक थे। परन्तु यह विष्णु वैदिक विष्णु तो नहीं ही थे, पौराणिक विष्णु भी नहीं रह गये! राम की अपेक्षा उनके कृष्ण अवतार की ओर बहुत लोगों

का झुकाव होता था, कृष्ण साहित्य का कलेवर भी बहुत बड़ा है। पर यह कृष्ण महाभारत के, गीता के, कृष्ण नही हैं। यह वह कृष्ण हैं जो ब्रज में राधा के साथ विहार करते हैं। ऐसा साहित्य दुर्बल चरित्र की जनता के लिए रोचक होता है, निम्न स्तर की वृत्तियों को जगाता है और अफीम की भाँति उन बातों को भुला देता है जो कभी हृदय को टीस जाती हैं। उस समय के राजे महाराजे भी जो अपनी स्वतन्त्रता खोकर दूसरों की कठपुतली बने हुए थे ऐसी कविता को प्रोत्साहन देते थे। उनके कामोद्दीपन और सन्तर्पण का यह अच्छा साधन था। शान्त रस की आड़ में श्रृंगार खेल रहा था। राधाकृष्ण के विहार के सन्दर्भ में बहुत कुछ कहा जा सकता था। गीतगोविन्द के रचयिता कवि जयदेव परम भक्त माने जाते है। कहते हैं कि श्रीकृष्ण इनके साथ साथ घूमते थे, अब भी जहाँ गीत गोविन्द के पद गाये जाते हैं वहाँ पहुँच जाते हैं। इन्हीं महाकवि के आश्रयदाता वह राजा लक्ष्मण सेन थे जो यह समाचार मिलने पर कि बख्तियार खिलजी थोड़े से सवारों के साथ आ रहा है विशाल गौड़ राज्य और उसकी प्रजा को छोड़कर आधी रात को महल से भाग गये। वह भी परम भक्त थे। गीत-गोविन्द मे एक पक्ति है :

राधा माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः

'यमुना के किनारे राधा और माधव की एकान्त केलियों की जय हो।' यह बहुत ही संयत भाषा है। इससे भी खुले शब्दों में काम लीलाओं के वर्णन हैं। जिस मार्ग को ख्यातनामा भक्त लोगों ने प्रशस्त किया, उस पर चलना दूसरे कवियो के लिए सुकर हो गया।

इस काल में कृष्ण रूपी विष्णु का चरित्र बहुत नीचे गिराया गया। वह कामुक के रूप में सामने लाये गये, व्यसनी नरेश और धनी लोग भी 'कन्हैया' बनने लगे। इस गिरावट को देखिए कि कृष्ण का 'रणछोड़', लड़ाई छोड़कर भागने वाला नाम भी चल पड़ा। प्राचीन आर्य्य ही नहीं, पौराणिक काल का भारतीय भी इस नाम को सुनकर काँप उठता।

इस ज़माने में विभीषण जैसे नराधम भी भक्तराज की पदवी पा गये।

बाल्मीकि रामायण के अनुसार जब वह राम से मिला तो पहिली बात जो उसके मुंह से निकली वह थी 'भवद्‌गतं हि मे राज्यम्'—मुझको राज्य मिलना आप के हाथ में है। न धर्म्म का चर्चा, न मोक्ष का नाम, सीधे राज्य की भूख थी। रावण के मरने पर उसने क्रिया कर्म्म करने से यह कह कर इनकार कर दिया कि रावण मेरा शत्रु था। इस पर राम ने उसे यह कह कर डांटा: 'मरणान्तानि वैराणि'—शत्रुता मृत्यु पर समाप्त हो जाती है। और यह भ्रातृद्रोही, देशद्रोही, व्यक्ति भक्त शिरोमणि माना गया! बात तो यह है कि पातित्य के इस काल में चरित्र का, मनुष्यता का, कोई मूल्य नहीं रह गया। यह बंगला कहावत चरितार्थ हो रही थी: '**माछेर झोल, नारीर कोल, बोल हरि बोल!**' मत्स्यादि का भक्षण करो, स्त्री सेवन करो पर हरि, हरि कहते जाओ। नाभा जी का भक्तमाल प्रसिद्ध ग्रंथ है। उसमें दिये हुए भक्तो के चरित्र देखिए। यह कहना कठिन हो जायगा कि भक्त के नाम पर किया गया कोई भी काम निंद्य है या नहीं।

जो लोग गिरे थे, उनको इन बातों ने और गिराया। भक्ति से मोक्ष मिलता हो या न मिलता हो परन्तु धर्म्म का तो लोप सा हो गया। सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह नामशेष रह गये। विदेशी शासन मे तो झूठ और खुशामद से काम चलता ही है, अध्यात्म के क्षेत्र मे भी इन बातो का समावेश हो गया। भक्तमाल के एक चरित्रनायक जैन मन्दिर से सोना चुराकर भगवान् को चढ़ाते हैं। भगवान् उनसे प्रसन्न होते हैं। यह व्यवहार साधारण सा हो गया। प्राचीन काल मे जब कोई अनुष्ठान करता था तो वह संकल्प करते समय कहता था:

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं, तन्मे राध्यताम्

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि—

'हे व्रतों के स्वामी अग्नि, मैं व्रत करने जा रहा हूँ, उसे सम्पन्न कीजिए, मुझे शक्ति दीजिए कि उसे कर सकूं, मैं अब झूठ छोड़कर सत्य को ग्रहण करता हूं।' आज कोई ऐसी बात भी नहीं सोचता। न यजमान के ध्यान में यह आता है, न पुरोहित उसको याद दिलाता है।

आजकल देश के बहुत से भागों में सत्यनारायण की कथा को कहने सुनने का रिवाज है। यह वस्तुतः चार कहानियों का संग्रह है जिनमें साधु वणिक् की कहानी मुख्य है। सब से लंबी भी है। वह प्रतिज्ञा करके भी कई बार सत्य-नारायण की पूजा में चूक जाता है और हरबार दंड पाता है। परन्तु उसे जब दंड मिलता है तब इसीलिए कि बचन देकर भी वह समय पर पूजा नहीं करता, और किसी बात के लिए नहीं। विदेश से थोड़े ही दिनों में बहुत सा धन कमा कर लाया। व्यास का कथन है :

नाहत्वा मत्स्यघातीव, नाकृत्वा कर्म्म दुष्करम् ।
नाच्छित्वापर मर्माणि, प्राप्नोति महतीं श्रियम् ।।

'बिना मत्स्यघाती की भाँति दूसरों का हनन किये, बिना अकरणीय कामों को किये, विना दूसरों के मर्म का छेदन किये, बहुत धन एकत्र नहीं हो सकता।' साधु ने भी यह सब किया होगा पर कोई पूछताछ न हुई। बस भगवान् का भाग देने में देर न होनी चाहिए। यह तो उत्कोच, रिश्वत, सी बात हुई।.समूची पुस्तक में कही सत्य के लिए आग्रह नही है। ऐसे साहित्य और ऐसी पूजा पाठ का जो प्रभाव पड़ सकता है, वह स्पष्ट है, हमारे सामने प्रयत्क्ष है। अनैतिक से अनैतिक कामों के लिए कथा का संकल्प होता है, पूजन होता है और कोई यह नही कहता कि सत्यनारायण भगवान् कैसे अनैतिकता और झूठ का समर्थन कर सकते हैं। यह उपदेश वेद का है कि :

सत्यमेव जयते नानृतम्,
सत्येन पंथा विततो देवयानः

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामाः,
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानं ।।

'सत्य की ही जीत होती है, झूठ की नहीं। सत्य से ही वह देवयान पथ बिछा हुआ है जिससे आप्तकाम ऋषि लोग उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ सत्य का परम निधान है, जहाँ सत्यनारायण हैं!' कहाँ यह शिक्षा और कहाँ वह

पर्य्यावरण जो आज की प्रचलित कथाओं से बनता है। भगवान् भी रिश्वत खाने वाला बन गया !

मैंने ऊपर जो कुछ लिखा है उससे कुछ पाठकों को मनस्ताप हो सकता है। मेरा उद्देश्य किसी का जी दुखाना नही है। मैंने तो जो कुछ कहा है उसका आधार वस्तुस्थिति है। उत्तर भारत का भक्ति साहित्य सबके सामने है, उस काल का इतिहास भी सबके सामने है। उत्तर प्रदेश राम और कृष्ण का प्रदेश है, काशी, अयोध्या, प्रयाग, मथुरा और हरिद्वार का प्रदेश है, तुलसी और सूर और कबीर का प्रदेश है। कोई भी व्यक्ति अपने हृदय से पूछे कि यहाँ की भक्ति-रचनाओं ने लोगों को अन्याय और अत्याचार, अधर्म्म और उत्पीड़न का विरोध और प्रतिकार करने की कहाँ तक स्फूर्ति दी, कहाँ तक लोगों को आत्मबलि सिखलायी। इस प्रदेश के निवासी कायर नहीं होते, लड़ना जानते हैं; परन्तु उनके कानों में भक्तों के जो शब्द पड़े उनमें वह ओज नहीं था, जो रामदास और तुकाराम की वाणी में था। उनको यही सिखाया गया कि जो कुछ आन पड़े उसे चुपचाप सह लो। जब '**कीट मरकट की नाईं, सबहिं नचावत राम गुसाईं**' तब अपने से हाथ पाँव क्यों और कैसे चलाया जाय ?

कलियुगवाद ने दुर्बलता को और दृढ़ कर दिया। यदि कलियुग, काल के एक विभाग विशेष को कहते हो तो उसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु इस शिक्षा ने लोगो को पंगु बना दिया कि कलि बहुत बुरा काल है, इस मे सारी बुराइयाँ भरी है, धर्म्म का ह्रास अवश्यम्भावी है। ये बातें निराधार और प्रत्यक्ष विरुद्ध है परन्तु चित्तो मे धारणा बैठा ली गयी। आज का मनुष्य उन पुस्तकों को पढ़ता है जो प्राचीन काल के विद्वान लिख गये है और सहस्रों दूसरी पुस्तकें भी पढ़ता है। उसने ऐसी विद्याओं के क्षेत्र मे प्रवेश किया है जिनके नाम तक पहिले नही थे। ऋग्वेद काल मे मनुष्य की चरमायु सौ वर्ष थी—**शतायुर्वै पुरुषः**—और आज भी उसी के लगभग है। वही बन, गिरि, सागर हैं। ऐसे कंकाल मिले हैं जो ५००० वर्ष पहिले के हैं अर्थात् कलियुग लगने से, पहिले के है। आज का मनुष्य उनसे छोटा नहीं है। किसी भी दृष्टि से यह समय ऐसा नहीं माना जा सकता कि बुरा है, धर्म्म के लिए अनुकूल नहीं है, तपश्चर्य्या के लिए उपयुक्त नही है। परन्तु ऐसी भ्रान्त धारणा लोगों के चित्त में भर

दी गयी। उसने उनको और हतोत्साह कर दिया। बुद्धि से काम लेना बन्द हो गया। यह किसी ने नहीं सोचा कि कलियुग में ही दक्षिण में बलशाली महाराष्ट्र का हिन्दू साम्राज्य कैसे स्थापित हुआ। भक्तों ने यह तो पढ़ाया कि दुर्बल के बल केवल राम हैं पर यह बताना भूल गये कि राम से कब किसको कहाँ बल मिला। सतयुग, त्रेता और द्वापर में भूभार को हल्का करने के लिए अवतार हुए पर क्या कभी भी पृथिवी पर उतना भार था जितना उस समय पड़ रहा था? हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, जरासंध, दुर्योधन, इनमें से किसने कब मन्दिरों को ध्वस्त किया था, कब किसी को धर्म्मान्तर ग्रहण करने के लिए विवश किया था? उनको मारने के लिए स्वयं विष्णु को अवतरित होना पड़ा। परन्तु वर्तमान काल में क्रन्दन सुनने वाला कोई नहीं था। भक्तों ने न तो भगवान् से त्राहि त्राहि कहा न जनता का नेतृत्व अपने हाथ में लिया।

किसी जैन ग्रंथ में एक सूत्र है 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा'। भक्तों ने उस सिद्धान्त को समझा ही नही जो इस सूत्र में निहित है। जो कर्म्मशूर है वही धर्म्मशूर हो सकता है। श्रीकृष्ण का नाम लेते रहे, परन्तु कर्म्मयोग से दूर रहे। अपने अनुयाइयों को यह नहीं बतलाया कि चरित्र बल का स्थान बड़ा ऊँचा है, उनको यह नहीं सिखाया कि धर्म्म का आचरण, अन्याय और उत्पीड़न का विरोध, जिस व्यक्ति में नही है वह भगवद्दर्शन का अधिकारी नही है। परतंत्र देश के हिन्दू को तो भक्ति का आडम्बर अच्छा लगा क्योंकि बाहरी चेष्टाएँ भीतर की सुलगती आग को दबाये रहती हैं; परन्तु न तो उसके चरित्र का उन्नयन हुआ, न समाज का वातावरण शुद्ध हुआ, न सच्ची आध्यात्मिकता का प्रचार हुआ। हाँ, आत्मवंचना का साधन निःसन्देह मिल गया। उपासक अपने अनुरूप ही अपने उपास्य को बना लेता है। पतित हिन्दू ने अपने साथ अपने भगवान् को भी नीचे गिरा दिया।

परिभाषा के अनुसार **परानुरक्तिरीश्वरे**, 'ईश्वर के प्रति परम अनुराग', का नाम भक्ति है। अनुराग अनुरागी और अनुरक्त को मिलाता है। माँ को बच्चे से अनुराग होता है। वह बच्चों में अपने को खो देती है। बच्चा ही उसका सर्वस्व है। बच्चे के सुख-दुख में उसका सुख-दुख है, बच्चे के लिए उसको अपने प्राणों की ममता नहीं होती। यही बात प्रणय में होती है। प्रेमी और प्रेमिका-

के बीच में ऐसा ही तादात्म्य होता है। पर इस प्रकार के अनुराग में एक दोष होता है। जहाँ एक से तादात्म्य होता है वहाँ दूसरों से गहिरा पार्थक्य भी हो जाता है। माँ के लिए अपना बच्चा सब कुछ है, उसका अपना स्व है, साथ ही सारा विश्व अस्व है। बच्चे का हित एक ओर, सारा जगत् दूसरी ओर। यही अवस्था प्रणय में होती है। परन्तु ईश्वर तो सर्वात्मा है। उसमें द्वैत है ही नहीं। ईश्वर के साथ अनुराग जब पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, तो उससे तादात्म्य होता है। उस अवस्था में सर्वात्मा से एकत्व प्राप्त होता है, अभेद की प्रतीति होती है, आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। सच्ची भक्ति का यही स्वरूप और यही परिणाम है।

इस अवस्था की प्राप्ति के साधन क्या हैं? ऐसा कहा जाता है कि भक्ति बहुत सरल है, सुकर है। यह बात ठीक नहीं है। कोई क्रिया तो हठात् भी की जा सकती है परन्तु भावनाओं के क्षेत्र में हठ से काम नहीं चलता। किसी से जबरदस्ती प्रेम नहीं किया जा सकता। अस्तु, भक्ति के सम्बन्ध में विशाल साहित्य है। उसमें से कुछ बहुत थोड़े से वाक्य उद्धृत किये जा सकते है पर उनसे भक्ति के साधनों का स्वरूप समझ मे आ सकता है। श्रीमद्भागवत के यह श्लोक प्रसिद्ध हैं :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः, स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यम्, सख्यमात्म निवेदनम् ॥

'विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, इनको ही नवधा भक्ति कहते हैं।'

नारदपञ्चरात्र में प्रेमभक्ति का यह लक्षण दिया है :

अनन्यममताविष्णौ , ममता प्रेम संगता
भक्तिरित्युच्यते भीष्म, प्रह्लादोद्धवनारदैः ॥

'हे भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद विष्णु के प्रति अनन्य ममता, प्रेमपूर्ण ममता, को भक्ति कहते हैं।'

यदि विचार से देखा जाय तो भक्ति का समावेश योग में पूर्ण-रूपेण हो जाता है। योग दर्शन में पंतजलि ने ईश्वर प्रणिधान को समाधि के प्रधान साधनों में परिगणित किया है। **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** सूत्र में ईश्वर के नाम के जप की प्रशस्ति की गयी है। उन्होंने ईश्वर के सबसे पवित्र और उत्कृष्ट नाम प्रणव 'ॐकार' के जप का विधान किया है पर उनका किसी एक वस्तु के लिए आग्रह नहीं है। **'वीतराग विषयम् वा चित्तम्'** में स्पष्ट ही कहा है कि बुद्ध, तीर्थंकर, राम, कृष्ण, स्वगुरु, जो कोई बीतराग व्यक्ति प्रतीत हो, उस पर चित्त को स्थिर करने से समाधि हो सकती है। **'यथाभिमतध्यानाद्वा'** कहकर तो पूरी ही स्वतंत्रता दे दी गयी है। जो भी ध्यान अपने को रुचिकर प्रतीत हो, धनुर्धर राम हो, चाहे वंशीधर कृष्ण हों, उसी में चित्त लगाना श्रेयस्कर होगा। जिस मधुर भावना का भक्ति साहित्य में चर्चा होता है वह चित्त को स्थिर करने में सहायक होती है। दाम्पत्य सूत्र के समान दूसरा कोई बन्धन सुदृढ़ और कोमल नहीं होता। ईश्वर से ऐसा सम्बन्ध जोड़ना योगियों को भी अभीष्ट है, जितनी ही लगन तीव्र होगी, उतनी ही त्वरा से अभीष्ट की सिद्धि होगी। **तीव्रसंवेगा नामासन्नः** तीव्र संवेग वालों को समाधि प्राप्त होती है। मेरी दृढ़ धारणा है कि चाहे किन्ही शब्दो से काम लिया जाय, भक्ति का भी लक्ष्य समाधि है और जो बड़े भक्त हो गये है वे सब योगी थे।

भक्ति के आचार्य्यों से मुझे यह शिकायत नहीं है कि उन्होंने राम, कृष्ण को धारणा का साधन बनाया। शिकायत यह है कि उन्होने चरित्र की महत्ता की ओर ध्यान नही दिया। सब लोग योगी नहीं हो सकते, भक्त नहीं हो सकते, पर भक्ति की नक़ल कर सकते हैं। ऐसे दम्भियों को भक्ति के नाम पर अनर्थ करने का अवसर मिल गया। हर मनुष्य न तो चक्र चला सकता है, न अँगुली पर पहाड़ उठा सकता है, पर स्त्रियों के बीच में रास और केलि कर सकता है। भक्ति के आचार्यों ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना से चित्त शुद्ध होता है। उन्होंने यह उपदेश नहीं दिया कि जो धर्म्म के मार्ग पर नहीं चलता, जो अन्याय और अत्याचार का खुलकर सामना नहीं करता, वह अर्जुन से बार-बार **तस्माद्युद्धस्व भारत**—'हे अर्जुन, इसलिए तुम लड़ो' कहने वाले कृष्ण का कदापि कृपापात्र नहीं बन सकता। उन्होंने अतिशयोक्ति के नशे में लक्ष्य को भी नीचे गिरा दिया। सहस्त्रों वर्षों से यह कहा जाता रहा है

कि मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष ब्रह्मज्ञान से होता है। भक्ति के आचार्य्यों ने इस लक्ष्य की ओर से भी दृष्टि हटा दी। यहाँ तक कह दिया गया कि :

ब्रह्मानन्दो भवेदेष, चेत् परार्द्धगुणी कृतः ।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥

'यदि कई करोड़ ब्रह्मानन्द प्राप्त हो तो वह भी भक्तिसुखसागर के परमाणु के बराबर भी नहीं होता।' भक्त के सामने मोक्ष से भी बड़ा कोई लक्ष्य रख दिया गया, यह लक्ष्य लोक कल्याण नही, केवल एक प्रकार का नशा था। जो साहित्य सामने आया उसने भी उन्नयन में, ऊपर उठने में, सहायता नहीं दी। नम्रता, अद्वेष, स्थिर बुद्धि, ये सब अच्छी बातें हैं परन्तु अकर्म्मण्यता बुरी चीज है। शृंगार को अध्यात्म के क्षेत्र में लाने की सीमा का निरंकुश उल्लंघन हुआ। मैंने ऊपर गीतगोविन्द का चर्चा किया है। कोई चाहे तो उसके हर वाक्य को रूपक मानकर जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध के आधार पर कथा गढ़ दे, पर कितने व्यक्ति स्वच्छन्द रूप से ऐसा कर सकते है? सीधी सादी कामकलाप की बातें है। हिन्दू धर्म में तप का संस्कार चला आता था, वह दूर हो गया। इस दुर्बलता लाने वाले वातावरण में सब कुछ कौड़ियो के मोल बिक गया।

कहाँ तो वेद कहता है :

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते, विष्णोर्यत्परमं पदम् ।
। १, २२, २१ ।

'विष्णु का जो वह परम पद है उसको जागरणशील, तपस्वी, इन्द्रिय-निग्रह करने वाले विद्वान्, मेधावी देखते हैं!'

और कहाँ आज कल अमुक एकादशी को व्रत रहने से, तोते को राम राम पढ़ाने से,विष्णु से भेंट होती है।योग शब्द सहस्रों वर्षों से चला आता था, उसको छोड़ कर भजन कहा जाने लगा। इसने दुर्बलता को और दृढ़ कर दिया।

एक और बात इस ह्रास में समर्थक हो गयी। प्राचीन काल से यह परम्परा चली आती थी कि धर्म्मोपदेश देने वाला श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए। श्रोत्रिय शास्त्रवेत्ता होने से जिज्ञासु की शंकाओं का निराकरण कर सकता है और ब्रह्मनिष्ठ आध्यात्मिक अनुभूति का मार्ग दिखा सकता है। इस काल में श्रोत्रियता और ब्रह्मनिष्ठता में खाई पड़ गयी। एक ओर पंडितों का समुदाय था जो पुस्तकों को पढ़ते थे, शास्त्रार्थ करना जानते थे परन्तु प्रायः आभ्यन्तर अनुभूति से दूर थे। केवल पाण्डित्य लोगों के लिए आकर्षक नहीं हो सकता था। दूसरी ओर साधु-समुदाय था जो शास्त्रों से अनभिज्ञ था। ऐसे लोग तर्क से दूर रहते थे और अपने शिष्यो से मुँहबंद श्रद्धा की प्रतीक्षा करते थे। इस विभाजन का यह परिणाम हुआ कि धर्म्म और दुर्बल हो गया। धाम्मिक विश्वास के लिए तर्क-सम्मत आधार नहीं रह गया, उसका एकमात्र सहारा अन्धा विश्वास था। ऊपरी ढाँचा अवशिष्ट था, ठठरी बच गयी थी, प्राण निकल चुका था। स्फूर्ति देने की शक्ति कब की जा चुकी थी।

तुलसीदास जी की रामायण ने मुर्दा रगों में प्राण का कुछ संचार किया था। अतीत के गौरव की कुछ स्मृति जागी थी। परन्तु कोई धर्म्माचार्य्य उसका लाभ न उठा सका। रामलीला वार्षिक तमाशा बनकर रह गयी और रामायण पाठ करने की पुस्तक मात्र।

इस युग मे भी देव परिवार में कुछ वृद्धि हुई परन्तु गणेश और हनुमान जैसा कोई बड़ा व्यक्तित्व नही आया। किसी विशेष संस्कार के द्वारा दूसरों को हिन्दू बनाने का चलन तो नही था परन्तु नये समुदाय हिन्दू बनते रहे हैं। देश की जंगल निवासी और अर्ध-सभ्य जातियाँ ज्यों-ज्यों सभ्यता की ओर बढ़ती हैं त्यों त्यों वह हिन्दू होती जाती हैं। कुछ हिन्दू देव देवियों की पूजा होने लगती है, कुछ हिन्दू त्योहार मनाने लगते हैं, कोई न कोई ब्राह्मण पहुँच जाता है और उनके विवाहादि संस्कारों में वेद मंत्रों का समावेश करके उनको हिन्दू रूप दे देता है। कुछ की नई वंशावलियाँ बन जाती हैं और उनका सम्बन्ध किसी देव देवी से जुड़ जाता है। गऊ को पूज्य मानने लगते हैं। इस प्रकार वे थोड़े दिनों में हिन्दू हो जाते हैं। उनके कुछ पुराने उपास्य तो हिन्दू देव देवियों में खप जाते हैं। जैसे, कोई भी देवी हो, वह काली का रूपान्तर बन सकती है। परन्तु सब इस

प्रकार नहीं खपते। वे ज्यों के त्यों रह जाते हैं। उनकी पूजा बराबर
रहती है। परन्तु देव परिवार के ये नये सदस्य केवल स्थानीय महत्त्व
है। सारे देश में इनकी ख्याति नहीं होती। नये उपास्यों की यत्र तत्र सृष्टि
रहती है। अभी पिछले चालीस पचास वर्षों के भीतर छोटा नागपुर की
ऐसा ही हुआ है। वहाँ किन्ही जंगलस्थित गाँवों में किसी संक्रामक रोग
प्रकोप हुआ। एक दिन किसी को स्वप्न हुआ कि अमुक अमुक प्रकार की
स्थापित करके पूजा करो, रोग शान्त हो जायगा। मूर्ति बनी, रोग भी
हो ही गया, आज गाँव गाँव में वैसी पूजा होती है। एक ऊँचे डीलडौल
पुरुष किसी प्रकार का कोट पतलून पहिने और सिर पर हैट दिये, उसकी
में एक महिला अंग्रेज स्त्रियों जैसा वस्त्र पहिने। इस युगल मूर्ति को स
साहिबा कहते है।

इस्लाम ने भी उपास्यों की सूची में वृद्धि की। हसन हुसेन के ता
को पूजने वालों में हिन्दू थे। पीर फकीरों की कब्रों पर हिन्दू मन्नत मानते
यह बातें कम हुई हैं पर अब भी है। यह सब होता था परन्तु हँसी और दुः
बात यह थी कि जो धर्म्मगुरु थे वह खड़े-खड़े तमाशा देख रहे थे। पंडित
पुजारी, पुरोहित यह देखते थे कि जनता इस्लामी व्यक्तियों की पूजा कर
है पर वे रोकने का यत्न नहीं करते थे। फलतः धार्म्मिक अव्यवस्था औ
बढ़ती गयी।

इसका एक उदाहरण देता हूँ जिससे इस अव्यवस्था और पत
पराकाष्ठा का पता चलता है। महमूद गजनवी के मरने के कुछ दिन बाद
कुछ सरदारों ने मिलकर भारत पर आक्रमण किया। इस बार उन्होंने ए
भूभाग को लक्ष्य बनाया जहाँ महमूद नही पहुँच सका था। श्रावस्ती और
आसपास के प्रदेश के निवासियों और उनके मन्दिरों की सम्पन्नता की ख्याति
दूर तक थी। उत्तर प्रदेश के वर्तमान बाराबंकी, गोंडा और बहराइच के
इसी मे पड़ते थे।

आक्रामक सेना के प्रधान सेनानी सैयद सालार मसऊद थे। मारे
पर इनके नाम के आगे 'ग़ाज़ी' विशेषण जुड़ गया।

उस क्षेत्र के हिन्दू राजा का नाम सुहेल देव था। कहा जाता है कि वह जैन धर्म्मावलम्बी और अहिंसा के व्रती थे। पहिले तो वह तटस्थ बैठे रहे परन्तु जब पठानों के बढ़ते अत्याचारों के समाचार आने लगे तो तटस्थता असह्य हो उठी। वह युद्ध में उतरे। कई छोटी लड़ाइयों के बाद मसऊद की मुख्य सेना का सामना हुआ। तीन दिन तक युद्ध चला। मसऊद मारा गया। उसकी सारी सेना तितर बितर हो गयी।

बहराइच में बालार्क नाम से प्रसिद्ध विशाल सूर्य्य मन्दिर था। कहा जाता है कि सुहेलदेव के देहान्त के १००—१५० वर्ष बाद फ़ीरोज तुग़लक के शासन-काल में यह मन्दिर तोड़ा गया और इसकी जगह मज़ार बन गया।

यह तो सब ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। जो हुआ वह हुआ। पर सबसे आश्चर्य्य की बात यह है कि यह सैयद सालार पुजने लगे और इनकी पूजा करने वालों में लाखों हिन्दू थे। उनकी प्रसिद्धि ग़ाज़ी मियाँ के नाम से हुई। इतना ही नही, बालार्क के नाम का एक टुकड़ा उनके नाम के साथ जुड़ गया और वह बाले मियाँ कहलाने लगे। गोंडा के राजा दत्तसिंह और अलाउल खाँ से लड़ाई हुई थी जिसमें अलाउल खाँ ने अपनी सेना के आगे कुछ गउओं को कर दिया था कि राजपूत तीर न चला सकें। यह कथा भी ग़ाज़ी के साथ चिपक गई पर इसका रूप बदल गया। ऐसा माना जाने लगा कि उन्होंने गौओं की गुहार में, गौओं की रक्षा के लिए, प्राण दिये। बस हिन्दुओं के लिए उनकी पूजा का एक सहारा मिल गया। प्रायः समाज के निम्न स्तर के लोग ही इस पूजा में सम्मिलित होते थे पर थे तो वह भी हिन्दू ही। अब बहुत कम हिन्दू ग़ाज़ी मियां को पूजते हैं परन्तु सैकड़ों वर्षों तक बाले मियां गोरक्षक के रूप में पूजे गये।

इस काल की धार्म्मिक अवस्था का वर्णन करने के लिए ईश्वर के सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा करना आवश्यक है। हम पहिले अध्यायों में देख आये हैं कि वैदिक और पौराणिक काल में इस देश के आध्यात्मिक वातावरण में ईश्वर या परमात्मा का क्या स्थान था। पुराणोत्तर काल में उस स्थान में परिवर्तन हुआ।

परमात्मा के स्वरूप और जीवात्मा के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में विद्वानों में मतभेद है, अद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और विभिन्न प्रकार के द्वैतवादों मे इसके बारे में मतवैषम्य है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि किसी भी वाद द्वारा स्वीकृत स्वरूप सेमेटिक ईश्वर से नहीं मिलता अर्थात् उस रूप से नहीं मिलता जो यहूदी, इस्लाम और ईसाई सम्प्रदायों को मान्य है। इसका कारण यह है कि हमारे सभी वादों को कर्म्म सिद्धान्त मान्य है। ऐसी दशा में ईश्वर न तो स्वेच्छया जगत् की सृष्टि कर सकता है, न संहार। हम जगत् के विकास और संकोच के संबंध में पहिले विचार कर चुके हैं। जीवों के प्राक्तन कर्म्मों के अनुसार ही जगत् की उत्पत्ति और लय का खेल निरन्तर होता रहता है। ईश्वर अधिक से अधिक आरम्भक हो सकता है। जिस प्रकार चुम्बक के सान्निध्य में लोहे के टुकड़े अपने को उत्तर दक्षिण दिशा में डाल देते हैं वैसे ही ईश्वर के सान्निध्य में जगत् के अवयव जो नित्य हैं अपने को यथावत् सजा लेते हैं। किसी कर्म्म के लिए न तो अनन्त पुरस्कार मिल सकता है, न अनन्त दंड। इसलिए ईश्वर किसी को न तो अनन्तकाल के लिए स्वर्ग में रख सकता है, न नरक में। बिना कर्म्मों के संस्कारों के क्षय हुए किसी को मोक्ष नहीं मिल सकता, ईश्वर अपनी ओर से किसी के अपराधों को क्षमा नहीं कर सकता।

यह परमात्मा का शास्त्रीय रूप है परन्तु व्यवहार में आज कुछ और ही देख पड़ता है। निरक्षर से लेकर सुपठित तक इस प्रकार बात करते हैं जैसे उनके मत में लोगों का दुख सुख सब ईश्वर की देन है, उसने अपनी इच्छा मात्र से लीला के रूप में जगत् को बनाया है, वह जो चाहे कर सकता है। संस्कृत का विद्वान् भी ऐसी ही बात कहता है। यद्यपि वह जानता है कि यदि कर्म्म सिद्धान्त सच हैं तो ईश्वर पर यह सारा दायित्व नहीं डाला जा सकता, फिर भी कहता है कि ईश्वर कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः है 'चाहे करे, चाहे न करे, चाहे अन्यथा करे।' ईश्वर के सम्बन्ध में यह मतपरिवर्तन दो कारणों से हुआ है।

इस्लाम ने भारत में ईश्वर का जो स्वरूप लाया वह ईश्वर के भारतीय स्वरूप से बहुत भिन्न था। परन्तु इस्लाम विजयी था। यह साधारण दस्तूर है कि विजित विजेता की भौतिक शक्ति से पराजित होने के बाद उसके विश्वासों

और धारणाओं से भी क्रमशः अभिभूत हो जाता है। हिन्दू परमात्मा साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च था 'वह इस जगत् रूपी तमाशे का साक्षी था।' तुलसीदास जी के शब्दों में, 'जग पेखन तुम देखन हारे'। उसके हाथ कर्म्म सिद्धान्त से, ऋत और सत्य के सनातन नियमों से, बँधे हुए थे। उधर इस्लामी ईश्वर जगत् का स्रष्टा, संहर्ता, विधाता था। जीवों को ईश्वर ने बनाया था, उनके कर्म्मों का प्रश्न ही नहीं उठता था। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू ईश्वर ने भी इस्लामी ईश्वर का रंग लिया। भक्तों ने भी उसे बल दिया। स्वयं तो अपंग थे, दुर्बल थे, कम-से-कम समझते ऐसा ही थे। उनको एकमात्र भरोसा ईश्वर का था। फलतः ईश्वर में ऐसे गुणों का आरोप हुआ जो उसमें पहिले नहीं थे। परमात्मा शब्द में दार्शनिक ध्वनियाँ हैं, ईश्वर शब्द शक्ति, पौरुष, अधिकार, का द्योतक है। परमात्मा अनन्त शक्तियों से सम्पन्न ईश्वर बन गया। पुराने ग्रंथों में चाहे जो लिखा हो परन्तु लोक व्यवहार में ईश्वर और खुदा के बीच की खाई पट गई। उसने अपने नये अधिकारों से काम भी लिए। कहाँ तो :

जन्म कोटि मुनि जतन कराहीं,
अन्त राम कहि आवत नाहीं।

और कहाँ तोते को पढ़ाते समय एक बार नारायण कह देने से गणिका तर गयी। भक्तों का ऐसा ही विश्वास है।

ईश्वर की शक्ति बढ़ी, अधिकार बढ़ा, परन्तु कर्म्म सिद्धान्त पर से विश्वास उठा नहीं। शताब्दियों ने इस विश्वास को हिन्दू के हृदय पर अंकित कर दिया था। इससे दुःखातिरेक में सान्त्वना मिलती थी, आगे के लिए आशा बँधती थी। नये ईश्वर और पुरातन कर्म्मवाद को कभी एक साथ ले चलना कठिन हो सकता है।

तुलसीदास जी एक जगह कहते हैं :

होइहि सोइ जो राम रचि राखा,
को करि तर्क बढ़ावइ साखा।

परन्तु दूसरी जगह वही लिखते हैं :

> कर्म्म प्रधान विश्व करि राखा,
> जो जस कीन्ह सो तस फल चाखा।

यह दोनों बातें एक साथ कैसे ठीक हो सकती हैं? यदि राम ने सब कुछ पहिले से रच रखा है तब तर्क करना सचमुच व्यर्थ है। परन्तु फिर कर्म्म के लिए क्या स्थान रहता है? एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है :

> सबहिं नचावत राम गुसाईं।

यदि यह बात यथार्थ है तो मनुष्य से राम गुसाईं ही सत्कर्म्म और दुष्कर्म कराते हैं, फिर जीव को पुरस्कार और दंड देने का क्या अर्थ होगा? यदि खेल हमारी इच्छा के अनुकूल न हुआ तो कठपुतली अपराधी मानी जायगी या उसको नचाने वाला? लोग दोनों, प्रकार की बातें पढ़ते हैं, सुनते है, कभी कभी विरोध का आभास होता ही होगा परन्तु विवेक बुद्धि को दबाकर किसी न किसी प्रकार चित्त को समझा लेते है। अधिकतर मनुष्य समझाने का यत्न भी नही करते। गाने बजाने मे मस्तिष्क की उलझन को दबाये रखते है, उसे सोचने का अवसर ही नहीं देते।

इस नयी परिस्थिति मे आस्तिक नास्तिक शब्दों के अर्थों मे वह परिवर्तन हुआ जिसकी ओर पहिले संकेत किया जा चुका है। अब इन शब्दों का सम्बन्ध वेद पर आस्था रखने से नही रह गया है। ईश्वर की सत्ता और अनंत शक्ति पर विश्वास करने वाला आस्तिक, ऐसा न माननेवाला नास्तिक कहलाता है। अब ये शब्द केवल वर्णनात्मक नहीं रह गये हैं, इनमें प्रशंसा और निन्दा की ध्वनि मिल गयी है। किसी को आस्तिक कहना उसकी प्रशंसा, नास्तिक कहना निंदा करना है।

इस जमाने में जब कि चारों ओर गिरावट फैली हुई थी, कुछ योगी सम्प्रदाय सामने आये। उन्होंने अपना गौरव निबाहा, हिन्दू समाज के गौरव

को भी बढ़ाया। एक सम्प्रदाय तो नाथों का था जिसमें मत्स्येन्द्र नाथ, गोरक्षनाथ और भर्तृहरि के नाम सारे देश में प्रसिद्ध हैं। ये लोग शैव थे। योग और भय अनमिल पदार्थ हैं। नाथ पंथियों को छेड़ने का साहस प्रायः मुस्लिम शासकों को नहीं हुआ।

नाथों के उदय के कुछ शतियों बाद सन्तमत आगे आया। इसको सबसे पहिले कबीर ने बढ़ाया। इस पंथ के कई भेद हो गये हैं परन्तु कबीर, रैदास, नानक, दादू, दरिया, पलटू जैसे महात्माओं के नाम सर्वत्र आदर के साथ लिये जाते हैं। इन पर चतुर्दिक व्याप्त वैष्णव वातावरण का इतना प्रभाव तो पड़ा था कि ये लोग ईश्वर के लिए बहुधा राम, नारायण, गोविन्द जैसे नामों का व्यवहार करते थे और अपनी उपासना शैली को भी बहुधा भजन कहने लगे थे। परन्तु थे यह वस्तुतः योगाभ्यासी। इनकी उपासना शैली का मूल यह उपनिषद् वाक्य है :

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति,
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति, तत्तेपदं संग्रहेण ब्रवीमि, ओऽमित्येतत्।

'जिस पद का चर्चा सब वेद करते हैं, सब तपस्वी जिसका उपदेश करते हैं, जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्य्य का पालन करते है, वह पद तुमसे संक्षेप में कहता हूँ, वह ऊँ है।'

इन लोगों के यहाँ देव देवियों के पूजन का तो प्रश्न नहीं उठता। खुलकर मूर्ति पूजा की निन्दा की गई है पर उतनी ही कड़ी निन्दा इस्लाम की भी की गयी है। यह उस समय के भयभीत हिन्दुओं के लिए तो बहुत बड़ी बात थी। कबीर को दिल्ली के बादशाह इब्राहीम लोदी ने सताना भी चाहा पर उससे कुछ करते न बना। हार खानी पड़ी। सन्त मत की ही उस शाखा ने जिसका प्रचार नानक ने पंजाब में किया था, सिक्ख धर्म्म का रूप ग्रहण किया और पंजाब से इस्लामी शासन की जड़ खोद डाली।

उत्तर भारत के दैनंदिन संघर्ष से दूर दक्षिण भारत में हिन्दुओं की स्थिति

अच्छी थी। वह उतने नहीं गिरे थे। राजनीतिक दृष्टि से भी सिर उठाने का अधिक अवसर था। वहाँ के सन्त महात्माओं तथा ब्राह्मणों के उपदेश भी अधिक तेजस्वी थे। ज्ञानेश्वर योगी थे, उनके उपदेश तो अभयवर्द्धक होते ही, रामदास और तुकाराम वैष्णव थे। रामदास की तो पुकार ही होती थी 'जय जय रघुबीर समर्थ', परन्तु इन्हीं लोगों के आशीर्वाद और प्रेरणा ने शिवाजी के हृदय और हाथ को बल दिया और महाराष्ट्र के साम्राज्य की नींव डाली।

तेरहवाँ अध्याय

वर्तमान काल

इस अध्याय की दृष्टि से मैं पिछले डेढ़ सौ वर्षों को, वर्तमान काल में गिनता हूँ। इस अवधि में देश ने बहुत से उतार चढ़ाव देखे हैं। सच तो यह है कि जितने व्यापक और गम्भीर परिवर्तन इस बीच में हुए उतने इससे पहिले की कई शताब्दियों में नहीं हुए थे।

मुग़ल साम्राज्य के समाप्त होने पर एक बार तो ऐसा लगता था कि उसकी जगह सारे देश में मराठा साम्राज्य स्थापित हो जायगा परन्तु मराठों की अदूरदर्शिता ने उनको वह पद प्राप्त न करने दिया। एक ओर तो उनको अँग्रेजों से लड़ना था, दूसरी ओर उनका आपसी कलह शक्ति का क्षय करता था और तीसरी ओर उन्होंने राजपूतों को शत्रु बना रखा था। उनका साम्राज्यस्वप्न मूर्त न हो सका और उनको अँग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। पंजाब में महाराजा रणजीत सिंह ने सिक्ख राज्य स्थापित किया था, उनके देहान्त के बाद वह भी थोड़े ही दिनों में समाप्त हो गया। सारा भारत, रणजीत सिंह जी के शब्दों में, लाल हो गया। अँग्रेज इस विशाल देश के असपत्न स्वामी हो गये। एक बार १८५७ मे विदेशी सत्ता को दूर हटाने का प्रयास हुआ परन्तु उसका प्राय: सारा भार उत्तर प्रदेश के कन्धों पर आ पड़ा। शेष प्रदेश तमाशा देखते रहे। वह प्रयास निष्फल गया और कुछ दिनों के लिए तो ऐसा प्रतीत हुआ कि अँग्रेजों के विरुद्ध किसी को सिर उठाने का साहस होगा ही नहीं। पर वे दिन भी गये। राजनीतिक हलचल फिर आरम्भ हुई। धीरे-धीरे उसमें तीव्रता आती गयी। त्याग, शौर्य्य और आत्मबलि के अवसर आये। लोगों ने प्राणों की

बाज़ियाँ लगायीं और एक दिन वह आया जब महात्मा गान्धी के नेतृत्व में देश पुनः स्वतंत्र हुआ।

स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने से निश्चय ही लोगों के चरित्र का उन्नयन हुआ, त्याग और शौर्य्य की सुषुप्त प्रवृत्ति उद्बुद्ध हुई, आत्मनिर्भरता आयी। अभी तक विदेशी शासन काल के कुछ संस्कार अवशिष्ट हैं, परन्तु स्वतंत्र भारत का निवासी बहुत दिनों तक अपने को दीन हीन नहीं समझ सकता।

इस बीच मे धार्म्मिक क्षेत्र में भी कम उथल-पुथल नहीं हुआ। अँग्रेजी शासन के फलस्वरूप ईसाई धर्म का रोब छा गया। शिक्षित भारतवासी अपनी सामाजिक रीतियों और धार्म्मिक रूढ़ियों पर लज्जित होने लगा। प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ धार्म्मिक आन्दोलन आरम्भ हुए जिनमें ब्रह्म समाज प्रमुख था। इस पर ईसाई धर्म्म की पूरी छाप थी, यद्यपि कुछ तत्त्वों को उपनिषदों से भी ले लिया गया था। न इसमे यज्ञ याग की जगह थी, न देवों की पूजा की। प्रार्थना रूप में ईश्वरोपासना की जाती थी। ब्रह्म समाज के ढंग पर ही पश्चिम भारत में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। जनता के आध्यात्मिक जीवन पर इन संस्थाओं का गम्भीर प्रभाव नहीं पड़ा।

इस कमी की आर्य्य समाज ने बहुत दूर तक पूर्ति की। उसके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आर्य्य समाज ने वेद को एकमात्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया और पुराणों का सर्वथा बहिष्कार किया। उसने देवों की पृथक् सत्ता को मानना अवैदिक ठहराया। लाखों मनुष्यों ने आर्य्य समाज की सदस्यता स्वीकार की है। उसने वेदों पर श्रद्धा जगाकर और सामाजिक कुरीतियों का कठोर विरोध करके हिन्दू समाज की बड़ी सेवा की है। दूसरे धर्म्मों के अनुयाइयों के आक्षेपों का उत्तर देकर तथा अन्य मतों के दोषों को प्रत्यापित करके समाज ने हिन्दुओं को आत्मविश्वास की बहुमूल्य दीक्षा दी।

उन्हीं दिनों थियोसोफिकल सोसायटी का उदय हुआ। इसके संस्थापकों में मादाम ब्लावात्स्की और कर्नल आल्काट जैसे ख्यातनामा विदेशी थे। इनके

बाद नेतृत्व स्वनामधन्या श्रीमती एनी बेसेण्ट के हाथ में आया। सोसायटी के सदस्य योग को महत्त्व देते थे और हिमालय के गुप्त तपोवनों में रहनेवाले महात्माओं का चर्चा करते थे। उन्होंने देव देवियों के अस्तित्व की साग्रह पुष्टि की और बहुत सी पौराणिक कथाओं का समर्थन किया। इन बातों ने भारत के शिक्षित जगत् को बहुत प्रभावित किया। विदेशियों की भारत की प्राचीन मान्यताओं पर ऐसी अटूट श्रद्धा देखकर भारतीयों को स्वयं उन पर श्रद्धा हो चली और आत्म-विश्वास जागा। श्रीमती बेसेण्ट ने भारत के राजनीतिक जीवन में भी भाग लिया था। सोसायटी के प्रयत्नों से वाराणसी में वह हिन्दू कालिज स्थापित हुआ था जो आज हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में हमारे सामने है।

वर्तमान काल में भारत के आध्यात्मिक आकाश को जिन नक्षत्रों ने ज्योतिर्मय बनाया उनमें रामकृष्ण परमहंस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने उनका सन्देश विदेशों तक पहुँचाया। उनके प्रवचनों ने श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया। भारतीय धार्म्मिक उपदेशों से पाश्चात्य देशवालों को प्रभावित होते देखकर यहाँ भी लोगों को अपने धर्म्म पर श्रद्धा बढ़ी। यद्यपि परमहंस देव और उनके शिष्यों की शिक्षा मुख्यतः वेदान्तमूलक रही है परन्तु उसने भी देव देवियों की सत्ता का समर्थन किया। स्वयं परमहंस देव शक्ति के उच्च कोटि के उपासक थे।

इन सब विचारधाराओं का हिन्दू पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। हिंदू धर्म के प्रति घृणा का भाव तो जाता रहा, ईसाई धर्म्म में दीक्षित होने की प्रवृत्ति भी जाती रही, परन्तु धार्म्मिक भावना में ह्रास ही हुआ। मुस्लिम शासन काल में शासन की ओर से जो धार्म्मिक छेड़-छाड़ होती रहती थी उसके कारण हिन्दू में कट्टरता आ गयी थी। अंग्रेज शासक धार्म्मिक विचारों और आचारों की ओर उपेक्षा की नीति बरतते थे। हिन्दू की धर्म्मनिष्ठा न तो आध्यात्मिक अनुभूति पर आधारित थी, न तर्क पर। प्रत्यक्ष विरोध के अभाव में आप से आप ढीली हो गयी। पाश्चात्य शिक्षा ने उसकी जड़ को और खोखली बना दिया। देश में प्रचण्ड सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हो रहे थे परन्तु धर्म्मगुरुओं ने काल की गतिविधि को नहीं पहिचाना; या तो काल-प्रवाह का हठात् विरोध किया या तटस्थ बैठे रहे। समाज का नेतृत्व उनके हाथ से निकल गया। आज

का शिक्षित, हिन्दू धर्म्म पर आस्था नहीं रखता। उसके जीवन में श्रद्धा का कोई पात्र नहीं है, श्रद्धा के लिए कोई स्थान नहीं है, यदि चित्त में शंका उठती है, जिज्ञासा जागती है, तो कोई मार्ग दिखाने वाला नहीं है। बेपतवार की नाव की भाँति वह विचारों के थपेड़े खाता रहता है, इधर उधर भटकता रहता है और अन्त में या तो घोर भौतिकता का आश्रय लेता है या विचार करना ही छोड़ देता है। अपने को अब भी हिन्दू कहता जाता है परन्तु यह शब्द उसके हृदय में किसी गम्भीर भावना को स्पन्दित नहीं करता। उसके लिए धर्म्म आलोक-हीन, उद्देश्यहीन, शब्दाडम्बर मात्र है।

आज मनुष्य मात्र के सामने विज्ञान की प्रगति ने कुछ बड़े प्रश्न उपस्थित कर दिये हैं। उसने मनुष्य को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की है और शान्ति तथा सम्पन्नता का द्वार खोल दिया है। परन्तु ऐसा लगता है कि मनुष्य अपने को सँभाल नही पा रहा है, उसमें वह बुद्धि नहीं है जिसके सहारे इस शक्ति से काम लिया जा सकता है। राग-द्वेष के अंकुश में काम करने वाला मानव पृथ्वी का सहार कर सकता है। उसने ऋत को तो कुछ कुछ जाना है परन्तु सत्य से बहुत दूर है। विज्ञान ने उसको मदान्ध कर रखा है और वह अपनी तर्कशक्ति और प्रकृति पर अपनी विजय से इतना दृप्त हो गया है कि श्रद्धा खो बैठा है, परमात्मा और परादेवता को निरर्थक कल्पना मानने लगा है। परन्तु आज भी समझदार लोग है जो उसको चेतावनी देते है। विज्ञान के प्रकांड पंडितों में ऐसे महापुरुष हैं जिनमे ज्ञानानुरूप नम्रता है, जो विज्ञान की सीमाओं से परिचित हैं, जिनको विज्ञान किसी अनिर्वचनीय तत्व और चेतना के किसी अतीन्द्रिय स्रोत का सन्देश देता प्रतीत होता है। देखना यह है कि मनुष्य इनकी बात सुनता है या नहीं।

जो समस्या सारे जगत् की है वह भारत की भी है, भारतवासी हिन्दू की भी है। उसको भौतिकता अपनी ओर खींचती है, धर्म्म कृत्रिम और थोथा प्रतीत होता है, पश्चिम की भौतिक उन्नति आँखों में चकाचौंध उत्पन्न करती है। उसके राजनीतिक नेता भी उसको कोई दूसरा मार्ग नहीं बताते। दूसरी ओर उसकी सहस्रों वर्ष पुरानी संस्कृति है, हृदय में बैठे हुए संस्कार हैं, उसके देश का वाङ्मय है, कला है। भौतिकवाद गम्भीर संकट के समय संबल नहीं देता, मानसिक व्यथा में सांत्वना नही देता। द्विविधा में पड़ा मानव दया और सहानुभूति

का पात्र होता है। अगत्या ऐसी अवस्था में चित्त उन लोगों की ओर आकृष्ट होता हैं जो विज्ञान और आध्यात्मिकता के समन्वयका उपदेश देते हैं। यह समन्वय निसर्गसिद्ध है। विज्ञान और अध्यात्म दोनों का आधार सत्य है और सत्य, सत्य का विरोधी नहीं हो सकता।

भारत या भारत के बाहर से जो स्वर अध्यात्मवाद के पक्ष में उठते हैं उनमें दर्शन की ही ध्वनि सुन पड़ती है। यह भी इस समय स्वाभाविक है। परन्तु कोरे दर्शन में भी भ्रमस्थल है। दर्शन में एक प्रकार का नशा होता है। वह तत्व संबन्धी ज्ञान देता है, तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कराता। साक्षात्कार तो साधना से ही होता है। ऐसी आशा करनी चाहिए कि वह दिन भी दूर नहीं है जब इस ओर भी ध्यान जायगा।

मैं नहीं कह सकता कि भविष्यत् में उपासना का क्या रूप होगा। इतना तो विश्वास होता है कि आगामी काल का हिन्दू दुर्बलता के ऊपर उठ चुका होगा। वह अपने उपास्य के सामने भिक्षुक के समान हाथ बाँधकर न खड़ा होगा। विज्ञान ने उसे देवताओं का कुछ परिचय दिया है। वह यह शिक्षा तो ग्रहण कर चुका होगा कि स्वार्थभाव विनाश का साधन है, मनुष्यमात्र के कल्याण में अपना भी कल्याण है। त्याग ही भोग का हेतु है, कर्त्तव्य ही मनुष्य का धर्म्म है, अधिकारों के पीछे दौड़ना मायामृग का पीछा करना है। ऐसे मनुष्य का आचरण देवगण को भी अभिमुख करेगा, उनका भी सख्य और उनकी भी सहायता प्राप्त होगी और वह न केवल अपने जीवन को सार्थक कर सकेगा परन्तु वेद की इस आज्ञा का भी पालन कर सकेगा :

कृणुध्वम् विश्वमार्य्यम् !

मुख्य सहायक पुस्तकों की सूची

१. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका—स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत

२. सर्वे आव संस्कृत लिटरेचर—श्री कुन्हन राजा कृत

३. दि वेदिक एज—(प्रधान सम्पादक) श्री आर० सी० मजूमदार

४. हिन्दू सिविलिज़ेशन—आर० के० मुकर्जी कृत

५. लिविंग रेलिजंस आव दि वर्ल्ड—फ्रेडेरिक स्पीगेल्बर्ग

६. ऐन हिस्टारिकल ऐप्रोच टु रेलिजन—आर्नल्ड टॉयनबी कृत

७. दि ओरिजिंस ऐण्ड हिस्टरी आव रेलिजंस—जान मर्फी कृत

उपर्युक्त पुस्तकों से तो स्थल विशेषों पर सहायता ली गयी है परन्तु वैदिक वाङ्मय, मुख्यतया ऋग्वेद संहिता, अथर्ववेद संहिता, और शतपथ ब्राह्मण का आश्रय तो पदे पदे लेना पड़ा है। इसी प्रकार, श्रीमद्‌भागवत, देवी भागवत, लिंग पुराण, मार्कण्डेय पुराण तथा श्री अक्षयकुमार बनर्जी कृत 'दि फ़िलासोफ़ी आव गोरखनाथ,' से प्रचुर मात्रा में सहायता ली गयी है।

शब्दानुक्रमणिका

———